विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक ७ जुलाई २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

RECENTLY RELEASED

Sri Sri Ramakrishna Kathamrita
VOLUME I

in English

A word for word translation of original Bengali edition. Available as hardbound copy at subsidized price, **for Rs. 150.00 each.**

Also available:

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 275 per set

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali which were first published at Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. These are word for word translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set

  In this series of 16 volumes the reader is brought in close touch with the life and teachings of Sri Ramakrishna family: Thakur, Swamiji, Holy Mother, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. And there is the elucidation according to Sri Ramakrishna's line of thought, of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures. The third speciality of this work is the ***commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by the author himself***.

ENGLISH SECTION

- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00
- A Short Life of M. Rs. 25.00

For enquiries please contact:

SRI MA TRUST
Sri Ramakrishna Sri Ma Prakashan Trust
579, Sector 18-B, Chandigarh - 160 018 India
Phone: 91-172-77 44 60
email: SriMaTrust@bigfoot.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २००२

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक ७

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-
विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिज़ियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

वर्ष ४० जुलाई २००२ अंक ७

नीति-शतकम्

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।६३।।

अन्वयः – विपदि धैर्यम्, अथ अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः, यशसि अभिरुचिः, श्रुतौ च व्यसनं, हि इदं महात्मनाम् प्रकृति-सिद्धम् ।

भावार्थ – विपत्ति में धैर्य रखना, समृद्धि में क्षमाभाव, सभा में वाक्चातुर्य, युद्ध में वीरता, यश में अभिरुचि, शास्त्र-अध्ययन में आसक्ति – महात्माओं में स्वभाव से ही ये गुण आ जाते हैं।

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्यामनभिभवगन्धाः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ।।६४।।

अन्वयः – प्रदानं प्रच्छन्नं, गृहम् उपगते सम्भ्रमविधिः, प्रियं कृत्वा मौनम्, अपि च, सदसि उपकृतेः कथनम्, लक्ष्म्याम् अनुत्सेकः, परकथाः अनभिभवगन्धाः, इदं विषमम् असिधाराव्रतं सतां केन उद्दिष्टम्?

भावार्थ – अपने दान को गोपनीय रखना, घर में आये अतिथि को सम्मान देना, भलाई करके चुप रहना, अपना उपकार किये जाने पर सबको बताना, सम्पदा में अभिमान न करना, बढ़ा-चढ़ाकर दूसरों की निन्दा न करना – तलवार की धार पर चलने के समान ऐसा व्रत महात्माओं को किसने सिखाया? अर्थात् ये उनमें स्वभाव-सिद्ध हैं।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

रामकृष्ण पद पंकज सुन्दर,
मज रे मज रे, मम मन मधुकर ।।

निशाकुसुम विषपूरित माया,
जनम जनम से रहा लुभाया ।
अब तो इसे त्याग दे मूरख,
उदयमान अन्तर में दिनकर ।।

बिसरा दुखमय नश्वर जग को,
लगा चित्त उसमें अमृत जो,
पाने को चिर शाश्वत जीवन,
सुधापान कर शीतल सुखकर ।।

– २ –

बोल रे, मन के पंछी बोल ।
रामकृष्ण की नामसुधा,
मेरे कानों में घोल ।।

डाली डाली व्यर्थ फुदकता,
सड़ी-गली पत्तियाँ पलटता,
मधुमय फल अन्तर में रखा,
इधर उधर मत डोल ।।

पाँव बढ़ाना देखभाल कर,
बैठ न जाना विषय जाल पर,
व्यर्थ चला जायेगा जीवन,
पाया जो अनमोल ।।

चाकचिक्य में मुग्ध न होना,
दुर्लभ अवसर को मत खोना,
सत्-असत्य का कर विचार तू,
समझ ढोल का पोल ।।

– *विदेह*

कर्तव्य क्या है?

स्वामी विवेकानन्द

भिन्न भिन्न जातियों में कर्तव्य की धारणा भिन्न होती है। किसी देश में यदि कोई व्यक्ति कुछ विशिष्ट कार्य नहीं करता, तो लोग उस पर दोषारोपण करते है; परन्तु अन्य किसी देश में यदि वह व्यक्ति वही कार्य करता है, तो वहाँ के लोग कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया। फिर भी हम जानते हैं कि कर्तव्य का एक सार्वभौमिक आदर्श अवश्य है। इसी प्रकार समाज का एक वर्ग सोचता है कि कुछ विशिष्ट बातें ही कर्तव्य हैं; परन्तु दूसरे वर्ग का विचार बिल्कुल विपरीत होता है और वह उन कार्यों को करना पाप समझेगा। अब हमारे सामने दो मार्ग खुले हैं। एक अज्ञानी का, जो सोचता है कि सत्य का मार्ग केवल एक ही है तथा शेष सब गलत हैं; और दूसरा ज्ञानी का, जो मानता है कि हमारी मानसिक दशा तथा परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य तथा सदाचार भिन्न भिन्न हो सकते हैं। अतएव जानने-योग्य प्रधान बात यह है कि कर्तव्य तथा सदाचार के विभिन्न स्तर होते हैं और जीवन की एक अवस्था के, एक परिस्थिति के कर्तव्य दूसरी परिस्थिति के कर्तव्य नहीं हो सकते।

हमारा पहला कर्तव्य यह है कि अपने प्रति घृणा न करें; क्योंकि आगे बढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि पहले हम स्वयं में विश्वास रखें और फिर ईश्वर में। जिसे स्वयं में विश्वास नहीं, उसे ईश्वर में कभी विश्वास नहीं हो सकता।

कर्तव्य की वस्तुनिष्ठ (बाह्य) परिभाषा कर पाना पूर्णत: असम्भव है, तो भी कर्तव्य का एक आत्मनिष्ठ (आन्तरिक) पक्ष होता है। यदि कोई कर्म हमें ईश्वर की ओर आगे बढ़ाता है, तो वह शुभ कर्म है और वह हमारा कर्तव्य है; दूसरी ओर जो कर्म हमें नीचे की ओर ले जाता है, वह बुरा है और वह हमारा कर्तव्य नहीं है।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपना आदर्श लेकर उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न करे। दूसरे के ऐसे आदर्शों को लेकर चलने की अपेक्षा, जिन्हें वह पूरा ही नहीं कर सकता, अपने ही आदर्श का अनुसरण करना सफलता का अधिक निश्चित मार्ग है।

जो जिस पद के योग्य नही है, वह दीर्घकाल तक उस पर रहकर सबको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। अत: प्रकृति के विधान के विरुद्ध बड़बड़ाना व्यर्थ है। यदि कोई मनुष्य छोटा कार्य करे, तो उसी कारण वह छोटा नहीं कहा जा सकता। कर्तव्य के केवल ऊपरी रूप से ही मनुष्य की उच्चता या नीचता का निर्णय करना उचित नहीं, देखना तो यह चाहिये कि वह अपना कर्तव्य किस भाव और ढंग से करता है।

प्रत्येक कर्तव्य हमारे पास है, जो कार्य अभी हमारे हाथों में है, उसे भलीभाँति सम्पन्न करने से हमारी शक्ति बढ़ती है; और इस प्रकार क्रमश: अपनी शक्ति बढ़ाते हुए हम एक ऐसी अवस्था भी प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें हमें जीवन और समाज के सबसे वांछनीय तथा प्रतिष्ठित कार्यों को करने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।

प्रत्येक कर्तव्य पवित्र है और कर्तव्य-निष्ठा भगवत्पूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

हम जिस स्थिति के योग्य हैं, हमें वही मिलती है। प्रत्येक गेंद अपने उपयुक्त छिद्र में ही गिरती है। यदि किसी की योग्यता दूसरे से अधिक है, तो संसार इस निरन्तर चलते रहनेवाले विश्वव्यापी समायोजन की प्रक्रिया में उसे जान लेगा। अत: बड़बड़ाने से कोई लाभ नहीं। यदि कोई धनी आदमी दुष्ट है, तो उसमें कुछ ऐसे भी गुण होंगे जिनके कारण वह धनी बना; और यदि किसी दूसरे व्यक्ति में ये गुण हैं, तो वह भी धनवान बन सकता है। शिकायतों और झगड़ों से क्या लाभ? उससे हम कुछ अधिक अच्छे तो बन नहीं जायेंगे। जो अपने भाग्य में आई हुई सामान्य वस्तु के लिये भी बड़बड़ाता है, वह हर एक वस्तु के लिये बड़बड़ायेगा। इस प्रकार सर्वदा बड़बड़ाते रहने से उसका जीवन दु:खमय हो जायेगा और सर्वत्र असफलता ही उसके हाथ लगेगी। परन्तु जो मनुष्य अपने कर्तव्य को पूर्ण शक्ति से करता रहता है, वह ज्ञान एवं प्रकाश का भागी होगा और उसे अधिकाधिक ऊँचे कार्य करने के अवसर प्राप्त होंगे।

जब तुम कोई कर्म करो, तब अन्य किसी बात का विचार ही मत करो। उसे एक उपासना – सर्वोच्च उपासना के रूप में करो और उस समय उसी में अपना सारा तन-मन लगा दो।

फल में आसक्ति रखनेवाला व्यक्ति ही अपने भाग्य में आये हुए कर्तव्य पर भुनभुनाता है। अनासक्त व्यक्ति के लिए सारे कार्य ही समान रूप से अच्छे हैं। उसके लिये तो ये कर्म ऐसे सशक्त उपाय हैं, जिनके द्वारा वह अपनी स्वार्थपरता व भोग-परायणता को नष्ट करके आत्मा की मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

हम सभी स्वयं को बहुत बड़ा मानते हैं। पर हम जितना मानने को तैयार हैं, उससे कहीं अधिक हमारे कर्तव्य हमारी योग्यता पर निर्भर हैं। स्पर्धा से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और
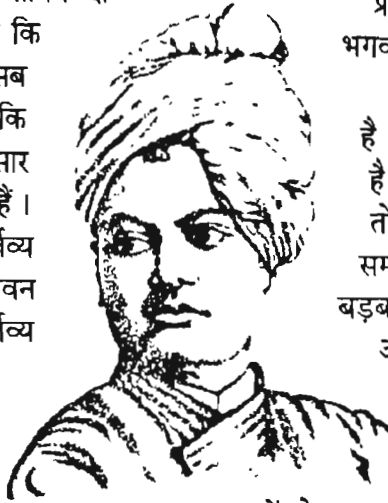
उससे हृदय की कोमलता नष्ट हो जाती है। बड़बड़ाते रहनेवाले व्यक्ति के लिये सभी कर्तव्य नीरस होते हैं। उसे कभी किसी चीज से सन्तोष नहीं होता और इसके फलस्वरूप उसका पूरा जीवन ही बेकार जाता है। हमें चाहिए कि हम कर्म करते रहें; सदा अपना कन्धा लगाये रखकर आनेवाले कर्तव्यों को पूरा करते रहें। तब निश्चित रूप से हमें आलोक प्राप्त होगा।

अपने कर्तव्यों का पालन करके तुम भले पक्ष का विकास करो। अपने कर्तव्यों का पालन करके ही हम कर्तव्य की भावना से ऊपर उठ सकते हैं; और तभी, केवल तभी, हम हर घटना को ईश्वरकृत् अनुभव कर पाते हैं। हम सभी उसके हाथ में यंत्रों के समान हैं। यह शरीर प्रकाशहीन है और ईश्वर दीपक है। जो कुछ शरीर के बाहर जा रहा है, वह ईश्वर का है। तुम इसे नहीं अनुभव करते, तुम 'मैं' का अनुभव करते हो। यह भ्रम है। ईश्वर की इच्छा के समक्ष मूक समर्पण सीखो। कर्तव्य इसके लिये सर्वोत्तम पाठशाला है। यह कर्तव्य ही नैतिकता है। अपने को पूर्णतया समर्पित बनाने का अभ्यास करो। 'मैं' की भावना से मुक्त हो जाओ। पाखण्ड नहीं। तभी तुम कर्तव्य की धारणा से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो, क्योंकि सब कुछ ईश्वर का है। तब तुम सहज भाव से सब कुछ भूलते और क्षमा आदि करते हुए आगे बढ़ सकते हो।

कर्तव्य शायद ही कभी मधुर होता है। कर्तव्य का चक्का तभी आसानी से घूमता है, जब उसमें प्रेम रूपी चिकनाई लगी होती है, नहीं तो वह एक अविराम घर्षण मात्र है। यदि ऐसा न हो, तो माता-पिता अपने बच्चे के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति, पति अपनी पत्नी के प्रति तथा पत्नी अपने पति के प्रति अपना कर्तव्य कैसे निभा पाते? क्या दैनन्दिन जीवन में हमें सदा इस घर्षण के उदाहरण नहीं दीख पड़ते? कर्तव्य-पालन की मधुरता प्रेम में ही है।

दासता को अथवा मांस के प्रति मांस की घृणित आसक्ति को कर्तव्य कह देना कितना सरल है! मनुष्य संसार में धन या अन्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिये एड़ी-चोटी का पसीना एक करता रहता है। यदि उससे पूछो, "ऐसा क्यों कर रहे हो?" तो झट उत्तर देता है, "यह तो मेरा कर्तव्य है।" पर वह धन और लाभ के लिये निरर्थक लोभ मात्र है, लोग उसे कुछ फूलों से ढँके रखने की चेष्टा करते हैं।

कर्तव्य हमारे लिये एक प्रकार का रोग-सा हो जाता है और हमें सदा आगे-ही-आगे खींचता रहता है। यह हमें जकड़ लेता है और हमारे पूरे जीवन को दु:खमय बना देता है। यह मनुष्य जीवन के लिये महा-विभीषिका स्वरूप है। यह कर्तव्य-बुद्धि ग्रीष्मकाल के मध्याह्न सूर्य के समान है, जो मानवता की अन्तरात्मा को दग्ध कर देता है। कर्तव्य के उन बेचारे गुलामों की ओर तो देखो! उनका कर्तव्य उन्हें प्रार्थना या स्नान-ध्यान करने को भी फुर्सत नहीं देता। कर्तव्य उन्हें प्रतिक्षण घेरे रहता है। वे बाहर जाते हैं और काम करते हैं, कर्तव्य सदा उनके सिर पर सवार रहता है। वे घर आते हैं और फिर अगले दिन का काम सोचने लगते हैं; कर्तव्य उन पर सवार ही रहता है। यह तो एक गुलाम की जिन्दगी हुई! फिर एक दिन ऐसा आ जाता है कि वे कसे-कसाये घोड़े की तरह सड़क पर ही गिरकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं! आम तौर पर इसी को कर्तव्य समझा जाता है। परन्तु अनासक्त होकर एक स्वतंत्र व्यक्ति की तरह कार्य करना तथा समस्त कर्म भगवान को समर्पित कर देना ही असल में हमारा एकमात्र सच्चा कर्तव्य है।

❖ (क्रमश:) ❖

पुरखों की थाती (८)

आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा।
निपात्यते क्षणेन अधस्तथाऽऽत्मा गुणदोषयो:।।

– शिला को पर्वत पर चढ़ाये जाने के समान, गुणों द्वारा अत्यधिक प्रयत्नपूर्वक मनुष्य को ऊपर उठाया जाता है, पर दोषों द्वारा क्षण भर में नीचे गिरा दिया जाता है।

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मण:।
क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य काल: पिबति तद्रसम् ।।

– कोई लेन या देन अथवा कर्तव्य बाकी हो, तो इन्हें शीघ्रतापूर्वक पूरा करना चाहिए, अन्यथा काल उनका रस पी जाता है अर्थात् समुचित फल नहीं होता।

अकृतेषु एव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति।
युवैव धर्मशील: स्यात् अनिमितं हि जीवनम् ।।

– जीवन का कोई ठिकाना नहीं है, मृत्यु कार्य के बीच से भी खींच कर ले जाती है, अत: युवावस्था में ही धर्म-साधना में लग जाना चाहिए।

अन्त:सार-विहीनस्य सहाय किं करिष्यति।
मलयेऽपि स्थितो वेणु: वेणुरेव न चन्दन: ।।

– जो बिल्कुल ही नि:सार व्यक्ति है, उसकी वैसे ही सहायता नहीं की जा सकती (अर्थात् उसकी अवस्था में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता), जैसे कि मलय पर्वत पर उगनेवाला बाँस बाँस ही रह जाता है, (अन्य सारवान् वृक्षों के समान) चन्दन नहीं हो सकता।

अंगद-चरित (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके तीसरे प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

अंगद बालि का पुत्र है, पर बलि की अपेक्षा अंगद में एक विशेषता है। बालि जीवन भर स्वयं को अभिमान से मुक्त नहीं कर सका। बल्कि यों कह सकते हैं कि बालि जैसे सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति का सबसे बड़ा दोष उसका अभिमान था। बालि अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उस अभिमान का परित्याग करने में समर्थ होता है। वह अपने अहंकार को भगवान के चरणों में अर्पित कर देता है और ममता के केन्द्र अपने पुत्र को भगवान के सामने उपस्थित करता है। अंगद की प्रशंसा करते हुए बालि ने सबसे पहले यही कहा – प्रभो, मेरा यह पुत्र बड़ा 'विनयी' तथा 'बलवान' है –

यह तनय मम सम बिनय बल ... । ४/१०

'विनयी' तथा 'बलवान' – इन दोनों शब्दों के प्रयोग करने में बालि का तात्पर्य यह था कि कई लोग बड़े विनम्र तो होते हैं, पर वे स्वयं निर्बल होते हैं। अत: संसार में प्राय: निर्बलों में ही विनम्रता देखी जाती है और दूसरी ओर जो बलवान होते हैं उनमे बहुधा अपने बल का गर्व है। बल और विनय का एकत्र सामंजस्य बड़ा ही दुर्लभ है। पर बालि ने अंगद की जो समीक्षा प्रस्तुत की, उसमें यही कहा – महाराज, यह विनयी भी है और बलवान भी।

अंगद के चरित्र में जो विनम्रता है, इसका क्या अभिप्राय है? बालि सर्वश्रेष्ठ पुण्य का प्रतीक है, क्योंकि इन्द्र का पद सर्वश्रेष्ठ पुण्यात्मा को प्राप्त होता है। पर उस पुण्य के साथ अभिमान जुड़ा हुआ है। बालि के पुत्ररूप में अंगद में बालि का वह पुण्य है, पर उसका पुण्याभिमान पूरी तौर से मिट चुका है। ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि अंगद बालि के पुण्य का परिशुद्ध रूप है, क्योंकि उसमें अभिमान का मैल नहीं है और पुण्य का परिणाम रूप विनम्रता का गुण भी अंगद में विद्यमान है। इसीलिये बालि के देहत्याग के बाद भगवान श्रीराम लक्ष्मण जी को आदेश देते हैं कि वे किष्किंधा जाकर सुग्रीव का राजतिलक करें और अंगद को युवराज का पद दें –

राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ युवराज । ४/११

और इतना ही नहीं, बाद में जब वे सुग्रीव को आदेश देते हैं कि तुम किष्किंधा का राज्य चलाओ, तो वे यह कहना नहीं भूलते कि ध्यान रहे – किष्किंधा का राज्य तुम्हें अकेले नहीं, अंगद को साथ लेकर उसकी सहमति से चलाना है –

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू । ४/१२/९

अब यदि साधारण परम्परा की दृष्टि से देखें, तो भगवान श्री राघवेन्द्र द्वारा सुग्रीव को राज्य देना और अंगद को युवराज बनाना उपयुक्त नहीं लगता, क्योंकि प्राचीन परम्परा के अनुसार तो राज्य आनुवांशिक परम्परा से प्राप्त होता था। ऐसी परिस्थिति में जब कोई सिंहासन पर बैठता था, तो उसका पुत्र ही युवराज के पद पर अभिषिक्त किया जाता था। यहाँ पर भगवान उसे एक दूसरे ही रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे राज्य पद तो सुग्रीव को देते है, पर राज्य की परम्परा को सुग्रीव के वंश से न जोड़ कर बालि के पुत्र अंगद को युवराज बनाने की आज्ञा देते हैं।

भगवान श्रीराम का यह कार्य कई सन्दर्भों में बड़ा महत्वपूर्ण है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें, तो भगवान का अभिप्राय यह है कि सुग्रीव सूर्य के पुत्र हैं। सूर्य प्रकाश है, विचार है, ज्ञान है और बालि इन्द्र का अंश है, वह पुण्य तथा सत्कर्म का प्रतीक है। बालि में अभिमान था, परन्तु अंगद ऐसे सत्कर्म और पुण्य के प्रतीक हैं, जिनमें अभिमान की वृत्ति नहीं है। भगवान जो इन दोनों को एक साथ जोड़ देते हैं और यह कहते हैं कि दोनों को साथ रहना चाहिये, इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि ज्ञान एवं सत्कर्म एक-दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं। बहुधा समाज में एक बड़ा विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है – जो व्यक्ति अधिक कर्मपरायण होते हैं, वे प्राय: विचार को अनुपयोगी मानकर उससे भागते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विचार बहुत करते हैं, उनको कर्म हेय जान पड़ता है या कर्म में उनकी वृत्ति नही होती।

परन्तु विचार के द्वारा यदि कर्म की उपेक्षा हो या कर्म का परिणाम यदि विचार की उपेक्षा हो, तो ये दोनों ही व्यक्ति के और समाज के जीवन में अधूरे सत्य के परिचायक हैं। इसके पीछे एक रहस्य है और रामायण तथा महाभारत में भी इस सत्य की ओर ध्यान दिलाया गया है। महाभारत में कर्ण और अर्जुन दोनों सगे भाई हैं, पर वहाँ रामायण से ठीक उल्टा है। महाभारत में कर्ण सूर्य के पुत्र हैं और अर्जुन इन्द्र के। वहाँ दोनों भाइयों का जन्म एक ही माता के गर्भ से हुआ। दोनों सगे भाई थे, अत: दोनों में घनिष्ठ प्रेम होना चाहिये था। रामायण में भी बालि और सुग्रीव दोनों सगे भाई हैं, अत: उनमें परस्पर प्रेम होना चाहिये था, परन्तु महाभारत में समस्या

यह आती है कि अर्जुन और कर्ण में टकराहट है और रामायण में भी यद्यपि बालि और सुग्रीव प्रारम्भ में तो जुड़े हुए थे, परन्तु आगे चलकर उनमें भी भेद उत्पन्न हो गया, शत्रुता पैदा हो गयी। रामायण और महाभारत दोनों में ये जो दृष्टान्त हैं, ये जीवन के इसी सत्य को प्रगट करते हैं और यह समस्या बड़ी जटिल है कि कर्म और विचार कैसे एक दूसरे के पूरक हों। कर्म और विचार तो सगे भाई के समान हैं, परन्तु जब वे प्रेम के साथ एक-दूसरे के पूरक होकर रहें, तभी व्यक्ति के जीवन को सच्चे अर्थों में पूर्ण कहा जा सकता है।

समुद्र-मन्थन के सन्दर्भ में जो रूपक आया है, उसमें भी इसी बात की ओर विशेष संकेत है। वहाँ समुद्र-मन्थन के रूप में एक सामंजस्य का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। अमृत की आवश्यकता है, ताकि देवता अमर हो सकें और दैत्यों के अन्त:करण में भी अमरता की आकांक्षा है। लेकिन प्रयत्न यह करना है कि देवता अमर हो जायँ और दैत्य अमर न हो सकें। बड़ी सांकेतिक भाषा है। जब आप खेत में बीज डालते हैं और वर्षा होती है तो बीज अंकुरित होते हैं, पर जो बीज आपने खेत में नहीं डाला, जो पहले से खेत में पड़े हुए घास-फूस के बीज हैं, वे भी अंकुरित होते हैं और वर्षा के जल से उन्हें भी जीवन मिलता है, शक्ति मिलती है। अब आप चाहें या न चाहें, धान के पौधे के साथ वे घास-फूस के पौधे भी वर्षा के जल से हरे-भरे होकर बढ़ेंगे ही। यह तो स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रयत्न करना पड़ता है कि वर्षा के जल का लाभ खेत में धान के पौधों को तो मिले, पर घास-फूस को न मिलने पाये। इसको उलट कर यो कहें कि जीवन में प्रयत्न यह करना है कि हमारे जीवन में सद्‌गुण तो अमर हों जायँ, पर दुर्गुण न अमर हो सकें। दुर्गुणों के भी अमर हो जाने की बहुत बड़ी आशंका है। जिन्हें हम सद्‌गुण कहते हैं, जैसे निर्भयता, यदि यह निर्भयता देवता की वृत्ति में उदित हो, तो वह समाज के लिये बड़ा हितकर होगा, परन्तु देववृत्ति वाले निर्भय हों या न हों, परन्तु दैत्य वृत्तिवाले तो प्रारम्भ से ही निर्भय दिखाई देते हैं। इसलिये बड़ी विचित्र स्थिति पैदा हो जाती है। कहीं किसी गाँव में डाका पड़ता है, तो दस-बीस डाकू आकर अपनी निर्भयता के कारण पूरे गाँव को लूटकर ले जाते हैं; परन्तु गाँववाले बेचारे भले आदमी हैं, उनमें डाकुओं जितनी निर्भयता की वृत्ति नहीं है, इसलिए लूट लिये जाते हैं। अत: समस्या यह है कि गुण कहीं किसी ऐसे व्यक्ति के जीवन में प्राप्त न हो जाय, जो उसका दुरुपयोग करे और यह आशंका तो बनी ही रहेगी।

पुराणों में जिनका राक्षसों या दैत्यों के रूप में वर्णन किया गया है और जिन्हें हम खलनायक या दुर्गुण-दुर्विचारों के रूप में देखते हैं, उनके जीवन में भी अमृत या सद्‌गुण पक्ष दिखाई देते हैं। उनके विषय में कभी कभी बड़े जोर-शोर के साथ इस पक्ष पर बल दिया जाता है। किसी ने तो गोस्वामी जी पर ऐसा भी आक्षेप किया कि वे श्रीराम के इतने पक्षपाती थे कि उन्होंने रावण के महान् गुणों का वर्णन ही नहीं किया, उनकी महानता का उल्लेख ही नहीं किया। ठीक है, परन्तु गोस्वामी जी ही क्यों, यह पक्षपात तो भगवान विष्णु से शुरू हो गया। वे यह तो कह देते हैं कि देवता और दैत्य मिलकर अमृत मन्थन करें, पर प्रयत्न यही करते हैं कि अमर देवता ही हों, दैत्य अमर न हो सकें। अब यह भगवान का पक्षपात है या नहीं? लोकहित के लिये इस प्रकार का पक्षपात आवश्यक है या नहीं? यों तो नारद जब रुष्ट हुए, तो उन्होंने भगवान पर यही आक्षेप किया – तुम्हारे जैसा विचित्र बँटवारा करनेवाला दूसरा कोई नही होगा। जब परिश्रम देवता और दैत्य ने समान रूप से मिलकर किया है, तो पुरस्कार का बँटवारा भी तो बराबरी का ही होना चाहिये या नहीं? फिर तुमने ऐसा पक्षपात कैसे कर दिया?

वैसे यदि साधारण दृष्टि से देखें तो नारद की बात ठीक लगती है, पर वस्तुत: नारद बड़ी विचित्र-सी बात कहते हैं –

असुरा सुरा बिष संकरहिं
आपु रमा मनि चारु। १/१३६

सबसे पहले तो उन्होंने असुरों का पक्ष लिया और यह कह दिया – "बेचारे दैत्यों ने अमृत के लिये कितना प्रयत्न किया था, समुद्र-मन्थन के लिये कितना परिश्रम किया था, पर तुमने उनको शराब पिला दी।" भगवान ने नारद की यह बात सुनी तो उनके होठों पर मुस्कुराहट आ गयी, बोले – "चलो, अब तुम भी असुरों का समर्थन करने लगे, तुम्हें लगा कि मैंने असुरों के साथ अन्याय किया। चलो भाई, तुम्हारी दृष्टि आज बदली हुई है।" नारद ने कहा – "असुरों के साथ ही नहीं, अपने प्रियजनों के साथ भी तुमने इतना बड़ा अन्याय किया है, क्योंकि समुद्र से विष निकला तो उसे तुमने शंकरजी को पिला दिया।" फिर यह भी कह दिया – "और तुम स्वयं भी कोई नि:स्वार्थी नहीं हो, क्योंकि लक्ष्मी जी आईं, तो उनको तुमने स्वयं अपने लिये स्वीकार कर लिया; कौस्तुभ मणि निकला, तो उसे अपने गले में पहन लिया। इससे सिद्ध होता है कि तुम घोर स्वार्थी तथा पक्षपाती हो और अपने प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति के भी हितैषी नहीं हो।"

अब इस दृष्टि से तो लगता है कि बात बिल्कुल ठीक है, पर इसके अन्तरंग तत्त्व पर विचार करें, तो लगेगा कि इसका तात्पर्य बिल्कुल ही भिन्न है और वही जीवन का सत्य भी है। क्या जीवन में समान परिश्रम करने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को एक ही स्थिति प्राप्त होती है? मन:स्थिति की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति एक ही जैसा कर्म करे; तो क्या उन्हें एक जैसा ही फल मिलता है? एक विद्यालय में अनेक विद्यार्थी पढ़ते हैं। वे नित्य नियमित रूप से हर कक्षा में उपस्थित रहते हैं, तो क्या कक्षा में पढ़ाई के आधार पर प्रत्येक विद्यार्थी की स्थिति एक

जैसी होगी? नहीं होगी। एक ही कक्षा में पढ़नेवाले विद्यार्थी विद्या का परिणाम भिन्न भिन्न रूपों में प्राप्त करेंगे। कोई उतनी ही शिक्षा पाकर उच्च-से-उच्च पद पर पहुँच जाता है और कोई व्यक्ति बिल्कुल नीचे ही रह जाता है। अभिप्राय यह कि केवल समान श्रम का नहीं, बल्कि वस्तुत: पात्रता का महत्त्व है। श्रम के साथ साथ पात्रता का भी सन्दर्भ जुड़ा हुआ है।

भगवान का तात्पर्य यह था कि जिसे अमृत प्राप्त होना, न उसके लिये और न समाज के लिए हितकर हो, उसके सन्दर्भ में क्या किया जाय? यह बात बड़ी ध्यान देने योग्य है। यदि दैत्य अमर हो जाय, तो क्या इससे उसका कल्याण होगा? रामायण में तो रावण के बारे में आपको यही सूत्र मिलेगा। विभीषण ने आकर भगवान राम को सूचना दी – "महाराज, रावण एक यज्ञ कर रहा है।" भगवान बोले – यह तो बड़ी शुभ सूचना है। यज्ञ को ध्वंस करनेवाला यज्ञ कर रहा है, तो इससे अच्छी बात और क्या होगी?" विभीषण ने कहा – पर महाराज, इस यज्ञ का फल क्या होगा? – क्या होगा? बोले – रावण अमर हो जायेगा। अब यह अमर हो जाना अच्छी बात है या बुरी? भगवान राम ने पूछा – तुम्हें क्या लगता है? तो विभीषण द्वारा रावण के लिए प्रयोग किया गया शब्द बड़ा ही सार्थक था। उन्होंने कहा – इस यज्ञ के सिद्ध हो जाने पर वह अभागा मरेगा नहीं –

नाथ करइ रावन एक जागा।
सिद्ध भएँ नहिं मरिहि अभागा।। ६/८५/२

यदि वह अमर हो जाता है तब तो उसे भाग्यशाली कहना चाहिये, पर वे कहते हैं – महाराज, वह अभागा नहीं मरेगा। इसका अर्थ क्या हुआ कि अमर होकर वह सबको मारेगा। एक व्यक्ति यदि अमर होकर लाखों लोगों को कष्ट दे, उन्हें मारे, तो इस अमरता में किसका कल्याण है? किसी का नहीं। उसमें संकेत यह था कि रावण के मरने में उसके स्वयं का भी कल्याण है और समाज का भी। – क्यों? – "इसलिए कि रावण मरेगा, तो मैं जानता हूँ आप उसे मुक्ति अवश्य देंगे। इसमें रावण का भी कल्याण है और रावण जैसे व्यक्ति मर जाय, तो लोग भी संकट से मुक्त हो जायेंगे।" कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनकी अमरता समाज के लिये और स्वयं उसके लिये बड़ी दु:खदायी होती है। उनकी मृत्यु स्वयं उनके और समाज के लिये भी कल्याणकारी है।

वस्तुत: भगवान द्वारा अमृत-वितरण करते समय जो पक्षपात दिखाई देता है, वह केवल बहिरंग दृष्टि से दिखाई देनेवाली विषमता है। समान रूप से वितरण कर दिया जाय – यह सूत्र तो बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है, परन्तु बिना परिणाम का विचार किये, यदि समान वितरण किया जाय, तो वह समान वितरण कल्याणकारी नहीं होगा। अत: भगवान विष्णु के वितरण में जो पक्षपात दिखाई देता है, वह केवल स्थूल दृष्टि से दिखाई देता है, अन्तरंग दृष्टि से नहीं। उसमें संकेत क्या था? भगवान नारद जी पर हँसते हुए बोले – "नारद, तुम कहते हो कि मैंने शंकर जी को जहर पिला दिया, लेकिन जिनको मैंने जहर पिलाया, उन्होंने तो मुझे कभी उलाहना नहीं दी और तुम उनका पक्ष लेकर उलाहना दे रहे हो। विचार करके देखो, असुरों का और समाज का भी कल्याण तो उनकी मृत्यु में ही है। इसलिये असुरों को अमृत नहीं मिलना चाहिये और शंकर जी को विष इसलिए मिलना चाहिये कि विष को विष तब कहते हैं, जब वह व्यक्ति को मार दे, पर इस विषपान के द्वारा तो शंकर जी की महिमा और भी प्रकट हो गयी कि संसार के अन्य देवता तो अमृत पीकर अमर हुए मगर शंकर जी ने तो विष को भी अमृत बना लिया, वे तो विष पीकर अमर हो गये। इस प्रकार से शंकरजी ने तो अपनी ऐसी महिमा, ऐसा दिव्यरूप प्रकट किया कि अमृत में ही अमृतत्व नहीं है, विष में भी अमृतत्व छिपा हुआ है –

कालकूट फल दीन्ह अमी को।। १/१८/८

यह एक बड़ा विलक्षण सत्य है और यह सर्वोत्कृष्ट दृष्टि भगवान शिव की है। यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि विष घातक है और अमृत कल्याणकारी, पर विष भी अमृत के रूप में परिणत हो सकता है, इस सत्य को अद्वैततत्त्व के परमाचार्य भगवान शिव ने अपने चरित्र के द्वारा प्रगट करके दिखाया।

ऐसी स्थिति में समुद्र-मन्थन की प्रक्रिया केवल इतिहास का ही नहीं, बल्कि समाज का भी शाश्वत् सत्य है। समाज में जब निरन्तर इस प्रकार से मन्थन और वितरण होगा, तभी समाज का कल्याण होगा। इस प्रकार समाज में कुछ लोग विष पीने वाले रहेंगे और कुछ अमृत पीने वाले।

लक्ष्मी के सन्दर्भ में भगवान बड़े स्वार्थी दिखाई दे रहे हैं, क्योंकि उन्होंने लक्ष्मी को स्वयं ले लिया, पर आप श्रीमद्भागवत पढ़िए, जब लक्ष्मी जी निकलीं तो सारे देवता उन्हीं की ओर देखने लगे। लक्ष्मी जी की सखियों ने कहा कि आप जिन्हें चाहें, वरमाला पहनाकर उनका वरण करें। लक्ष्मी जी ने देखा कि प्रत्येक देवता में कुछ गुण हैं तो कुछ दोष भी हैं, पर जब उन्होंने भगवान नारायण को देखा कि वे तो सर्वगुणसम्पन्न हैं, उनमें कोई दोष है ही नहीं। सखियों ने पूछा – क्या इनमें भी कोई दोष है? बोलीं – नहीं, पर इनके प्रति मेरे मन में एक उलाहना अवश्य है। – क्या? बोलीं – "सारे देवता मेरी ओर देख रहे हैं, मुझे पाने को लालायित हैं, पर ये ही अकेले ऐसे हैं, जिनकी दृष्टि मेरी ओर नहीं है। मैं तो सोचती हूँ कि इन्हीं के गले में वरमाला डाल दूँ।" बड़ी सांकेतिक भाषा है। यहाँ अभिप्राय यह है कि जो लक्ष्मी जी को चाहनेवाले हैं, उन्हें यदि वे मिलेंगी, तब तो वे उसे संचित करके रखने की ही चेष्टा

करेंगे, पर जिनके जीवन में लक्ष्मी के प्रति आसक्ति नहीं है, उन्हें जब वे मिलेंगी, तो उससे लोक-कल्याण होगा।

संसार में महानतम विष के तुल्य घटनाएँ होती हैं, समस्याएँ आती हैं, उनको पचा लेनेवाले, उसको आत्मसात् कर लेनेवाले भगवान शिव के समान महान् तत्वज्ञ और दूसरी ओर भगवान विष्णु जैसे महान् निरपेक्ष चरित्र भी होते हैं।

भगवान विष्णु के साथ कौस्तुभ मणि की भी कथा जुड़ी हुई है। उसका भी रहस्य समझ लेने योग्य है। अन्य किसी मणि को धागे में पिरोने के बाद ही उसे धारण किया जाता है। और यह कौस्तुभ मणि, जिसे भगवान अपने गले में धारण किये हुए हैं, वह किस धागे में पिरोई हुई है, सोने के धागे में कि चाँदी के धागे में कि सुत के धागे में? वस्तुत: कौस्तुभ मणि किसी धागे में नहीं पिरोई गयी है। पुराणों में उसका बड़ा अनोखा वर्णन किया गया है। वहाँ संकेत यह है कि कौस्तुभ मणि बिना किसी धागे के, बिना किसी सूत्र के, भगवान के गले से लग जाती है। यह बड़ा सार्थक संकेत है। जब हम किसी मणि को धागे में पिरोकर धारण करते हैं, तो उसमें छिद्र करना पड़ता है, पर कौस्तुभ मणि निश्छिद्र रहित है और बिना किसी प्रयत्न के इसका भगवान के हृदय की ओर आकर्षण है। जब परशुराम जी की भगवान श्रीराम से वार्ता हुई और उन्हें सन्देह हुआ कि राम ईश्वर हैं या मनुष्य! उन्होंने श्रीराम से एक प्रस्ताव किया। उनके कन्धे पर धनुष था। उसे कन्धे से उतारकर वे बोले – राम! यदि तुम इस धनुष को खींचकर चढ़ा दोगे, तो मैं समझ लूँगा कि भगवान का अवतार हो गया और मेरे कार्यकाल की सीमा अब समाप्त हो गयी –

राम रमापति कर धनु लेहू।
खैचहु मिटै मोर संदेहू॥ १/२८३/७

बड़ी सांकेतिक भाषा है। परशुराम जी को आशा थी कि श्रीराम धनुष लेंगे और खींचकर डोरी चढ़ायेंगे। अन्य रामायणों में यह कथा भिन्न रूपों में भी है। कहीं यह कथा इस रूप में भी आई है कि श्रीराम ने परशुराम जी से धनुष ले लिया और उसकी डोरी चढ़ाकर, उस पर बाण चढ़ाकर उनसे पूछा – अब बताइये, इस बाण का उपयोग कहाँ करूँ? तो वहाँ वर्णन आता है कि परशुराम जी ने कहा – मेरी जो लोकान्तर की गति है, उसी को इस बाण से अवरुद्ध कर दीजिए।

इस प्रकार भगवान राम और परशुराम जी के संवाद का वर्णन किया गया है, पर 'मानस' में जो वर्णन है, वह तो बड़ा अनूठा है। उसमें जो समग्रता है, वह अन्य संवादों में नहीं है। परशुराम जी भगवान से धनुष लेने को कहते हैं, पर भगवान अपना हाथ नहीं बढ़ाते। फिर परशुराम जी ने बड़े आश्चर्य से देखा कि धनुष स्वयं उनके हाथ से निकल कर भगवान के हाथ में चला गया। परशुराम जी को लगा कि यह क्या बात हुई? उनके मन में दोनों के प्रति उलाहना आया, धनुष के प्रति भी और श्रीराम के प्रति भी। धनुष के प्रति यह उलाहना आया कि इतने दिनों तक मेरे पास रहे और मुझे छोड़कर भागने के लिये इतने बेचैन थे? और श्रीराम के प्रति उलाहना यह कि जब मैंने खीचने के लिये कहा तो इन्होंने खींचा क्यों नहीं? ये हाथ बढ़ाकर खीचते तो ठीक होता।

जब परशुराम जी ने धनुष से पूछा – तुम इतने उतावले होकर भाग क्यों खड़े हुए? धनुष ने कहा – "महाराज, आपने तो मुझे इतने दिनों तक कन्धे पर ढोया, अब भागकर मैं आपका बोझ ही तो हल्का कर रहा हूँ। अब मुझे ढोने का भार आप पर नहीं रह गया। आपके इस भार को उतारनेवाले राम आ गये हैं। भार उतारने के लिये श्रीराम का अवतार हुआ है। आपको प्रसन्न होना चाहिये कि अब आपको मेरा भार उठाने की आवश्यकता नहीं है। आप तो इनका परिचय भी जानना चाहते थे। इसके साथ साथ मेरा स्वार्थ भी था।" – क्या? – "आप वह सामने पड़ा हुआ धनुष देख रहे हैं न, चढ़ाने-बढ़ाने के झंझट में वह टूटा पड़ा है। क्या आप समझते हैं कि मैं भी टूटकर ही मानता? पहले से ही समर्पित हो जाने में कल्याण है। अभिमान से तनने में निरन्तर टूटने की सम्भावना बनी रहती है।" परन्तु जब परशुराम जी ने भगवान श्रीराम से पूछा – तुमने धनुष को खींचा क्यों नहीं? तो भगवान बोले – "महाराज, संशयी व्यक्ति के चित्त को प्रयत्नपूर्वक खींचना पड़ता है, परन्तु आपके समान पवित्र अन्त:करण वाले सन्त को बलपूर्वक खींचने की आवश्यकता थोड़े ही है, वह तो स्वयं ही खींचा चला जाता है।" ऐसा भी होता है कि कुछ लोगों का चित्त अपनी ओर खींचने के लिये भगवान को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह स्वयं भगवान की ओर खींचकर चला आता है। कौस्तुभ मणि के सन्दर्भ में भी यही संकेत है कि प्रभु को न तो लक्ष्मी की आवश्यकता है और न कौस्तुभ मणि की, पर यह कौस्तुभ मणि भी बिना किसी छिद्र के, बिना किसी सूत्र के भगवान के हृदय में पहुँचकर अपने को धन्य मानती है। भगवान का सौन्दर्य तो अपने आपमें परिपूर्ण है; परन्तु 'भगवान के पास पहुँचे बिना हम अपूर्ण हैं' – इस बोध के कारण यह कौस्तुभ मणि और लक्ष्मी भगवान के पास हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

जीने की कला (११)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

आपसी सम्बन्ध जोड़ना

अनेकता में एकता प्रकृति की एक खास विशेषता है। आम के सभी वृक्षों की पत्तियाँ आम की ही पत्तियाँ कहलाती हैं, परन्तु लाखों पत्तियों में कोई भी दो पत्तियाँ एक समान नहीं होती। एक ही प्रजाति की चिड़ियों में कोई भी दूसरे के बिल्कुल समरूप नहीं होती। मानव-जाति तो एक ही है, पर एक व्यक्ति से दूसरे का अन्तर सुस्पष्ट है। यद्यपि पिन चुभ जाने से सभी लोगों का खून बहने लगता है, परन्तु खून में भी विभिन्न वर्ग और उपवर्ग हैं। किन्हीं दो व्यक्तियों का रक्त अपने रासायनिक सम्मिश्रण में एक समान नहीं होता। कोई रोग लग जाने पर मनुष्य बीमार पड़ जाता है। परन्तु रोग भी तो हजारों हैं। सभी खाद्य पदार्थ खाने के लिये ही हैं। परन्तु प्रत्येक खाद्य पदार्थ का स्वाद अन्य से भिन्न है।

गौतम बुद्ध ने लोगों को, उनकी रुचि, प्रवृत्ति और परिवेश के आधार पर चार वर्गों में विभाजित किया है –

१. अन्धकार से अन्धकार की ओर जानेवाले लोग
२. प्रकाश से अन्धकार की ओर जानेवाले लोग
३. अन्धकार से प्रकाश की ओर जानेवाले लोग
४. प्रकाश से प्रकाश की ओर जानेवाले लोग

झोपड़ी में जन्मे एक शिशु की कल्पना कीजिए। वह बिना किसी सुविधा, बिना सुपोषण तथा स्वास्थ्य विषयक सावधानी, बिना शिक्षा और बिना चरित्र-विकास के प्रति उचित ध्यान के ही बढ़ता जाता है। उसकी प्राथमिक प्रेरणा भूख मिटाना ही है। वह बिना उचित मार्गदर्शन या किसी सभ्य बनानेवाले प्रभाव के ही बढ़ता जाता है। वह जैसे-तैसे बढ़ता है। सम्भव है वह बुरी संगति में पड़ जाय। अन्ततः वह किसी प्रकार का सामाजिक या सांस्कृतिक संस्कार पाये बिना ही संसार से चला जाता है। कहा जा सकता है कि वह शिशु अन्धकार से अन्धकार की ओर चला गया।

मान लीजिये एक झोपड़ी में जन्मा शिशु बड़ा होकर शहर में चला जाता है। वहाँ एक व्यवसायी उस तेजवान कर्मठ बालक से प्रसन्न होकर उसे शिक्षण तथा प्रशिक्षण दिलाने का प्रबन्ध करता है। वह बालक अपने नियत कर्तव्यों को निष्ठा और ईमानदारी से करते हुए अपने उपकारी व्यवसायी की सद्भावना प्राप्त कर लेता है। आगे चलकर यह बालक स्वयं भी एक व्यवसायी बन जाता है। वह विनम्रता और उदारता के सद्गुणों से भी युक्त हो जाता है। क्या यह अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने के समान नहीं है?

कुछ लोग संसार में अच्छे परिवेश में ही जन्म लेते हैं। वे जीवन में बिना किसी अभाव के ही बढ़ते जाते हैं। वे ज्ञानी तथा गुणियों के बीच निवास करते हैं। वे स्वभाव के अच्छे हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश वे बुरी आदतों के शिकार हो जाते हैं, रोगों से संक्रमित हो जाते हैं, दुर्बल हो जाते हैं और दु:ख के साथ संसार से विदा होते हैं। उन लोगों ने प्रकाश से अन्धकार में प्रवेश किया है।

कुछ लोग अच्छे परिवार में जन्म लेते हैं। बचपन से ही वे एक सुसंस्कृत परिवेश में बढ़ते हैं। उनके माता-पिता संस्कारित तथा धर्मात्मा होते हैं। वे महापुरुषों के संग रहते हैं और ज्ञानी तथा विवेकवान लोगों से मार्गदर्शन पाते हैं। वे आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर चलते हुए परमानन्द की उपलब्धि करते हैं। ऐसे लोग प्रकाश से प्रकाश की ओर अग्रसर होते हैं।

दार्शनिक तथा कवि भर्तृहरि की एक उक्ति सामाजिक संरचना को समझने की कुंजी है। समाज के विभिन्न प्रकार के लोगों के स्वभाव तथा आचरण का वर्णन करते हुए एक श्लोक में वे कहते हैं –

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।७५॥

– "कुछ लोग किसी पुरस्कार की इच्छा से रहित तथा अपने व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं की चिन्ता किये बिना ही सर्वदा दूसरों के कल्याण-साधन में लगे रहते हैं। इन्हें सत्पुरुष कहा जाता है। ये लोग अपनी असुविधाओं पर ध्यान दिये बिना ही सर्वदा दूसरों की सहायता में लगे रहते हैं। सामान्य कोटि के लोग अपनी इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति हेतु कार्य करते हुए भी यथासाध्य दूसरों की मदद करते हैं। नरदेहधारी कुछ ऐसे राक्षस भी हैं, जो अपने स्वार्थ के लिये किसी का सिर काटने जैसे जघन्य अपराध से भी पीछे नहीं हटते। और बिना किसी लाभ के ही दूसरों को पीड़ित करनेवालों को कौन-सी संज्ञा दी जाय, यह मुझे नहीं मालूम।"

मनुष्यों में ऐसे लोग भी हैं जो अपना अधिकांश समय सोने में बिता देते हैं। कुछ अन्य लोग कार्य करते हुए समय

बिताते हैं। कुछ अन्य लोग भी हैं जो केवल ध्यान और चिन्तन करते हैं। सभी लोग सोते हैं। सभी लोग गहरी निद्रा का अनुभव करते हैं। पर सभी लोगों की निद्रा की अवधि एक समान नहीं होती। कुछ लोगों को अधिक निद्रा की जरुरत होती है। वे कभी बिस्तर से उठने को उत्सुक नहीं होते। कुछ लोग प्रतिदिन छः घण्टे सोकर ही काम चला लेते हैं। कहते हैं कि निकोलाइ टेस्ला नामक वैज्ञानिक ने अपनी प्रयोगशाला में शोध करते हुए लगातार ७६ घण्टे जागकर बिता दिये थे।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार अपने शिष्यों को बताया था कि अपने भ्रमण के दिनों में एक बार उन्होंने लगातार तीन दिनों तक, बिना सोये ही भाषण दिया था और इस प्रकार शायद उन्होंने एक अतिमानवीय कीर्तिमान स्थापित किया था।

किसी बात की शिक्षा ग्रहण करने के ढंग में भी लोगों में बड़ी विभिन्नता होती है। एक प्रकार के लोग दूसरों की कुछ गल्तियों के फलस्वरूप उन्हें पीड़ित देखकर स्वयं उन गल्तियों से बचने के लिए सतर्क रहते हैं। कुछ लोग स्वयं कोई गल्ती करके उसके फलस्वरूप उत्पन्न दुःख के अनुभव से शिक्षा प्राप्त करते हैं। एक अन्य प्रकार के लोग भी हैं, जो गल्ती के फलस्वरूप हुए दुःख के बावजूद कभी कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करते और उन्हीं गल्तियों को दुहराते रहते हैं।

वैराग्य या अनासक्ति भाव की अनुभूति में भी विभिन्नतायें रहती हैं। एक तरह का क्षणिक वैराग्य भी होता है, जो धार्मिक प्रवचन के प्रभाव से उत्पन्न होता है। किसी प्रियजन की मृत्यु को देखकर सुखों का अस्थायी त्याग हो जाता है। तीव्र प्रसव-पीड़ा के अनुभव से कभी कभी स्त्रियों को इन्द्रिय-सुखों से वैराग्य हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से भी लोगों में धनी, निर्धन तथा मध्यम वर्ग के भेद हैं। और जीवन बिताने के तरीकों की दृष्टि से तो विभिन्नताओं का कोई अन्त नहीं है।

व्यक्तियों के चरित्रों की विभिन्नता के कारण लोगों के बीच का आपसी सम्बन्ध जटिल हो जाता है और तालमेल बैठा पाना कठिन हो जाता है। यही वह मूल कारण है, जिसके चलते मनुष्यों को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। वर्ग-विभाजन में कोई दोष नहीं, परन्तु एक-दूसरे का नाश करने को प्रवृत्त करानेवाला आपसी द्वेषभाव ही भयानक और त्याज्य है। चरित्र की विभिन्नताओं के आधार पर मनुष्यों के साथ व्यवहार हेतु 'हितोपदेश' चार तरीके बताता है। पहला तरीका मित्रतापूर्वक 'समझाना' है। इसे संस्कृत में 'साम' कहते हैं। पर केवल कुछ ही लोग इस प्रकार से रास्ते पर आ सकते हैं। कुछ लोग आपकी सलाह सुनकर केवल तभी उसके अनुसार चलेंगे, जब आप उन्हें इसके लिए कुछ पुरस्कार दें। यह तरीका 'दान' कहलाता है। तीसरा तरीका 'भेद' का है। इसमें लोगों के बीच स्पर्धा उत्पन्न करके प्रतियोगिता की भावना से काम पूरा कराया जाता है। और अन्तिम तरीका 'दण्ड' है, जिसमें किसी से अपनी इच्छानुसार कार्य कराने के लिये दण्ड की धमकी देना या दण्ड दी जाती है। पूर्वकाल में यह भाव था कि बुरे कार्य करनेवाली प्रजा को दण्ड देना राजा का कर्तव्य है। परन्तु आज लोकतांत्रिक समानता के तर्क के आधार पर कारावास में पड़ा एक अपराधी भी एक सदाचारी व्यक्ति के तुल्य विशेषाधिकारों की माँग कर सकता है।

वह कौन-सा मूलभूत तत्त्व है, जो लोगों को एक सूत्र में आबद्ध करता है और परिवार, संगठन या समाज जैसी विभिन्न इकाईयों के घटकों में आपसी मैत्री का बन्धन सुदृढ़ करता है? इसमें व्यक्ति अपनी स्वार्थपरता का दमन करता है और अपने लिए दावों तथा विशेषाधिकारों के आग्रह के रूप में 'अहं' को प्रकट करने की जगह उसे कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व की भावना के अधीन कर देता है। ईश्वर में विश्वास रूपी मूल भाव की जरूरत है। कोई व्यक्ति ईश्वर में विश्वास रखे या न रखे, परन्तु स्वार्थपरता, झूठे मान-प्रतिष्ठा की भावना से छुटकारा पाकर और एकमात्र परमेश्वर को प्रसन्न करने की इच्छा से धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्यों का सम्पादन करते हुए व्यक्ति मानसिक शान्ति पा सकता है और निराशा, चिन्ता एवं भय की घातक भावनाओं से मुक्त हो सकता है। सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करने के उत्साह में और जीवन के असंख्य अभावों की पूर्ति के लिए भाग-दौड़ के बीच, व्यक्ति को सदैव निज से पूछना चाहिये कि क्या वह सही कदम उठा रहा है? कोई कदम उठाने से पहले उसे भलीभाँति सोच लेना चाहिये कि वह नैतिक है या नहीं।

सबके संरक्षक

स्वयं को ईश्वर के प्रति समर्पित करके और सभी दुःखों तथा परेशानियों के समय भगवान से सहारे के लिए याचना करके व्यक्ति न केवल निराशा के भार से, अपितु जीवन की समस्त बाधाओं से मुक्त हो सकता है। जीवन की कठिनाइयों को उन परीक्षाओं के रूप में स्वीकार करना चाहिये, जिन्हें भगवान हमारे आन्तरिक बल की जाँच के लिए हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। ये कठिनाइयाँ हमारा चरित्र-गठन करती हैं। छेनी पर हजारों प्रहार करने के बाद ही मूर्ति गढ़ी जाती है।

भगवान भक्तवत्सल, कृपासागर और दयानिधान हैं। भक्त की प्रार्थना यदि सच्ची हो, तो वे उचित आश्वासन देते हैं या उसकी इच्छित वस्तु तथा सुरक्षा प्रदान करते हैं। सतत भगवन्नाम-जप करते रहने पर भक्त कभी भी उनके सहारे से वंचित नही होता। प्रार्थना, भजन तथा जप के द्वारा व्यक्ति को ईश्वर की रक्षाशक्ति में दृढ़ विश्वास विकसित करना चाहिये।

हममें से अधिकांश लोगों का भगवान में विश्वास वैसा ही छिछला है, जैसा कि मैदान में खेलते हुए बच्चे बात-की-बात में भगवान के नाम की शपथ खाते रहते हैं। ईश्वर में सच्चा

विश्वास हो जाना सारी समस्याओं से छुटकारा पा जाने के समान है। यदि किसी का विश्वास निर्बल है, तो उसे सबल करना सम्भव है। परन्तु इसे एक दिन में ही नहीं किया जा सकता। यह बाजार से सब्जी खरीदने जैसा नहीं है। दीर्घकाल तक साधन-भजन, आन्तरिक प्रार्थना, सत्संग और ऐसे पवित्र ग्रन्थों के अध्ययन से भगवान में विश्वास दृढ़ होता है, जिनमें ईश्वर की कृपालब्ध तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्पन्न सन्त-महात्माओं का चरित वर्णित हुआ है। भगवान से प्रार्थना करने की शुरुआत करने के लिये हमें विश्वास के दृढ़ हो जाने तक की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे हम अपने आत्मीय प्रियजनों के पास जाकर, उन्हें अपनी कठिनाइयों से अवगत कराकर उनसे सहानुभूति की अपेक्षा करते हैं, ठीक वैसे ही हम निर्जन में जाकर भगवान से बारम्बार आन्तरिक तथा अश्रुपूरित प्रार्थना कर सकते हैं। इससे निश्चय ही हमें काफी लाभ होगा। यह हमारे मन को सबल बनायेगा। कठिनाइयों के समय लोग विभिन्न मन्दिरों में जाकर प्रार्थना और भेंट चढ़ाते हैं। यह लाभकारी अवश्य है, परन्तु दृढ़ विश्वास के साथ प्रार्थना करने पर प्रभाव महत्तर और परिणाम द्रुत होगा। वर्तमान कठिनाई की तीव्रता चाहे जितनी भी हो, भगवान की असीम शक्तियों में विश्वास तथा आन्तरिक प्रार्थना मन में प्रभूत बल का संचार करेगी।

बिना-विश्वास प्रार्थना बिना-डाकटिकट लगे पत्र के जैसा है। और भक्तिशून्य प्रार्थना बिना पता लिखे पत्र के समान है।

विश्वास और तीव्र व्याकुलता से दृढ़ीभूत प्रार्थना द्रुतगामी टेलीग्राम या ई.मेल के समान है।

कर्तव्य-पालन – आध्यात्मिक जीवन का चरमबिन्दु

"तैरते रहो, कभी हार न मानो, कभी साहस मत छोड़ो, तट पर पहुँचकर विजयी बन जाओ" – सन्तों के इस उपदेश का एक वृद्धा माँ ने प्राय: अक्षरश: पालन किया था। एक समृद्ध जीवन बिताकर भी वे कभी उसमें आसक्त नहीं रहीं। अपना अन्तकाल आने पर वे पुत्र को बुलाकर जीवन में सीखे हुए पाठ बताने लगीं – "बचपन में ही मैंने सुन रखा था कि ईश्वर का स्मरण न करनेवाला मन अपवित्र होता है और ईश्वर की याद न किया जानेवाला दिन अशुभ होता है। मैं बचपन से ही इस बात को मानकर चलने लगी। बचपन में ही मैं समझ गयी थी कि परमात्मा हमारे हृदय-मन्दिर में बैठकर सदा हमारे कर्मों को देख रहे हैं; अत: मैंने अपने कार्य को सुव्यवस्थित और साफ-सुथरे ढंग से करना सीख लिया। जब मुझे बताया गया कि पति परमेश्वर हैं, तो मैंने उनकी छाया बनकर रहने का प्रयास किया और कभी उन्हें अप्रसन्न करने की बात मेरे मन में नहीं आयी। कभी कभी उनकी आशा के अनुरूप न चल पाने पर मैं उनसे क्षमा माँगती। मैंने अश्रुपात करते हुए भगवान से प्रार्थना की, "हे प्रभो, मैं आभूषण, वस्त्र या घड़ी अथवा जूते-चप्पलों की इच्छा से प्रलोभित न होऊँ। मैं तुम्हारे नाम-जप में रस का आस्वादन करूँ। मुझे यह विश्वास दो कि तुम्हारी इस दुनिया के सभी लोग तुम्हारे ही प्रतिनिधि हैं। मुझे इतनी शक्ति दो कि मैं पूरे धैर्य से किसी भी प्रकार का दु:ख या अपमान को सह सकूँ।" मैं ईश्वर से ऐसी ही प्रार्थना किया करती थी। मुझे दृढ़ विश्वास था कि बच्चे भगवान के ही उपहार हैं और उनकी जरूरतों को पूरा करते हुए मैं मन-ही-मन सोचती, "प्रभु मुझे देख रहे हैं। मुझे बच्चों की देखभाल करनी है और पतिदेव को प्रसन्न रखना है।" इस विश्वास के साथ मैं अपने कर्तव्यों का पालन किया करती थी। बच्चों का शोरगुल तथा चंचलता मेरे पतिदेव को सहन नहीं होता था। मेरा दृढ़ विश्वास था कि भगवान इसके द्वारा मेरी परीक्षा ले रहे हैं। जब मुझे एक ऐसी पुत्रवधू मिली, जो हमारी जीवन-शैली के साथ सामंजस्य नहीं बैठा पाती थी, तो एक बार फिर मैंने अश्रुपूरित नेत्रों के साथ प्रार्थना की। जानते हो मुझे भगवान से क्या सन्देश मिला!

"पुत्री! धैर्य रखो। यदि सब कुछ तुम्हारे अनुकूल होता रहेगा, तो तुम इस मायामय संसार में अधिकाधिक फँसती जाओगी। अब तुम्हें जगदम्बा के दर्शन हेतु तैयारी करनी चाहिये। भाग्य ने ही तुम्हारी पुत्रवधू को ऐसी प्रवृत्ति दी है, ताकि तुम मोहमार्ग से दूर रहो और तुम्हारा धैर्य सुदृढ़ हो।" तब से मुझे अपने पौत्रों की देखभाल का भी काम मिल गया। मैंने यह सोचकर खुद को सान्त्वना दी कि जैसे स्वर्णकार सोने को भट्ठी में डालकर उसका शोधन करता है, वैसे ही भगवान भी मेरा शोधन कर रहे हैं। मैं अपने पौत्रों की देखभाल करने लगी और दिन-रात प्रतिक्षण उन पर नजर रखने लगी। इनसे मुझे कोई प्रशंसा भी नहीं मिली। पर ज्योंही मुझे लगा कि यह संसार मुझे प्रलोभित कर रहा है, मैंने अपनी प्रार्थना की तीव्रता बढ़ा दी। बच्चो! अब मैं तुम सभी को छोड़कर जाने के लिये तैयार हूँ। कोई भी अमर नहीं है। मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। मैंने कोई परीक्षा नहीं पास की है। परन्तु मुझे अनुभव होता है कि मेरा जीवन उन्नत हो गया है, क्योंकि मैं अपने पति के प्रति निष्ठावान थी, भगवान के प्रति श्रद्धालु थी और अपने बड़ों की आज्ञाकारिणी थी। अपने जीवन के दु:ख-कष्टों को भगवान द्वारा ली जा रही परीक्षा के रूप में ग्रहण करो, उन्हें सहन करो और भगवान के सम्मुख अश्रुपूरित नेत्रों के साथ निरन्तर प्रार्थना करो। इससे निश्चय ही तुम्हें चिरन्तन सुख प्राप्त होगा। बच्चो! तुम भी अपने जीवन में इसी पथ को अपनाओ।"

बच्चों में ईश्वर का दर्शन करते हुए उनकी सेवा करना भी एक तरह की उपासना है। भगवान के राज्य में विनम्रता, सेवाभाव तथा धैर्य को मूल्यवान माना जाता है। परन्तु क्या हम सचमुच ही अपने जीवन में ये गुण विकसित कर रहे हैं? आधुनिक समझ के अनुसार ईश्वर एक फासिल है, विषय-भोग

ही जीवन का सार-सर्वस्व है और सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ऐसे विचार के लोगों से परिपूर्ण किसी भी समाज या सरकार को आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व का कभी बोध नहीं हो सकता। राष्ट्र की सुरक्षा हेतु सरकार करोड़ों रुपये खर्च करती है, पर बड़ा अच्छा होता यद्दि वह इसके साथ-ही-साथ ऐसे भी उपाय करती जिससे लोगों में घृणा, भय और ईर्ष्या का बीजारोपण न हो और आपसी प्रेम एवं सौहार्द्र को बल मिले। यह एक अत्यन्त रचनात्मक योजना होगी। क्रोध की बुराई का नाश करने में यह एक बड़ी सशक्त हथियार सिद्ध होगी।

एक पवित्र स्मृति

इस पुण्यभूमि भारत में मातृत्व के आदर्श का अनुसरण करनेवाली और चन्दन के टुकड़े के समान सेवा और त्याग में अपने जीवन को मिटा देनेवाली असंख्य नारियाँ हैं। सन्तान को जन्म देने मात्र से ही कोई नारी एक आदर्श माँ नहीं बन जाती। आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में ही ऐसे मातृत्व का विकास होता है। नि:स्वार्थता के शिखर पर आरोहण करनेवाले ऐसे महान् लोग सत्य के साधकों के लिये चिर प्रेरणा के स्रोत हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा लेखक श्री डी.वी. गुण्डप्पा द्वारा कन्नड़ भाषा में लिखित 'भगवद्‌गीता-तात्पर्य' एक लोकप्रिय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को लेखक ने एक महिला के नाम समर्पित किया है। उक्त पुस्तक में इस महिला के जीवन के माध्यम से ही गीता के सन्देश को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है। आइए हम लेखक के ही शब्दों को सुनें, "यह ग्रन्थ मेरी छोटी बहन लक्ष्मी-देवम्मा को समर्पित है, जिसने शान्तभाव से बाल-वैधव्य को भाग्य-विधान के रूप में स्वीकार किया; जिसने भगवद्‌भक्ति के सहारे एक आध्यात्मिक जीवन बिताया और वृद्धों व अपंगों की सेवा, अनाथों की देखभाल तथा गरीबो की मदद के द्वारा अपने जीवन की सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की और हमारे लिए एक पवित्र स्मृति छोड़ गयी।"

हमारे देश में 'त्याग और सेवा' थोपे गये गुण नहीं, अपितु समर्पण की भावना से स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत एक उच्च आदर्श की साधना हैं। भगवान में अटल विश्वास तथा दृढ़ समर्पण-भाव के बिना ऐसे आदर्श का अनुसरण कभी सम्भव नहीं।

भगवान के अस्तित्व का खण्डन करने को ही ज्ञान, बुद्धि तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सूचक माननेवाले आज के शिक्षित लोग क्या कभी ऐसे आदर्श की महानता को समझ सकेंगे? क्या वे कभी इसमें रुचि ले सकेंगे? भले ही वे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करें या न करें, भले ही उन्हें यह विचार पसन्द हो या न हो, पर सत्य तो सदा सत्य ही रहेगा। हम अपनी सनक और रुचि के अनुसार इसे बदल नहीं सकते।
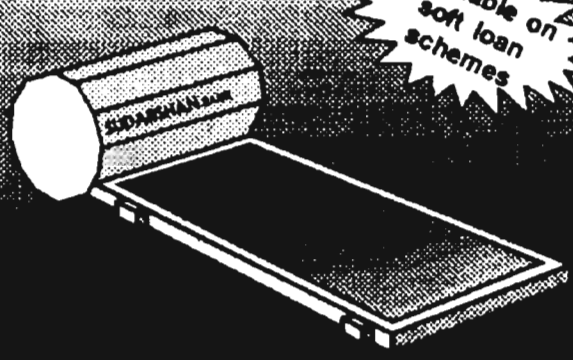
इस देश के ऋषि-मुनियों को यह अनुभूति हुई थी कि ईश्वर या इस विश्व की आदिशक्ति को असंख्य पथों द्वारा पाया जा सकता है और उन्होंने जगत् में इस सत्य का प्रचार किया था। हमारे इस युग में भी श्रीरामकृष्ण देव ने इस आदर्श का अनुसरण करके परमात्मा की अनुभूति की और अपने शिष्यों का मार्गदर्शन किया और आध्यात्मिक जीवन के सत्य को पुन: स्थापित किया। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "ईश्वर की उपासना पिता के रूप में की जा सकती है। ईश्वर की उपासना माता के रूप में भी की जा सकती है। माता के रूप में उपासना करके हम भक्ति में शीघ्र प्रगति कर सकते हैं। सख्य या दास्य भाव से ईश्वर की उपासना करके भी आध्यात्मिक रूप से उन्नति की जा सकती है।" उन्होंने कहा था, "जितने मत उतने पथ – भिन्न भिन्न स्वभाव के लोगों के लिये भिन्न भिन्न मार्ग हैं। परन्तु ईश्वर के चरणों में पहुँचने के लिये मातृरूप में ईश्वर की उपासना ही सरलतम तथा शीघ्रतम पथ है। ईश्वर को माँ समझना और सभी मनुष्यों में जगदम्बा का ही दर्शन करना – यही सभी आध्यात्मिक साधनाओं का लक्ष्य है। श्रीरामकृष्ण देव ने अपने उपदेशों तथा आचरण के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि मातृरूप में ईश्वर की धारणा दृढ़ हो जाने पर, मनुष्य सहज ही अपनी सभी सीमाओं को पार करके शीघ्र ही दिव्यता की उपलब्धि कर सकता है।

❖ (क्रमशः) ❖

हितोपदेश की कथाएँ (१)

('पंचतंत्र' पशु-कथाओं के द्वारा नीति-शिक्षण का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की कथाएँ क्रमशः **ईरान, सीरिया तथा अरब देशों** से होती हुई यूरोप पहुँचीं। ५३३ ई. के बाद से विश्व की विविध भाषाओं में इसके अनेक अनुवाद मिलते है। **१४वीं शताब्दी में नारायण पण्डित** ने उसी का आधार लेकर 'हितोपदेश' लिखा। बंगाल के राजा धवलचन्द्र इनके आश्रयदाता थे। १३७३ ई. में लिखित **इसकी एक पाण्डुलिपि** मिली है। अत: यह इसके पूर्व की ही रचना है। आबाल-वृद्ध सबके लिए उपयोगी समझकर हम इसका धारावाहिक **प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.**)

गंगाजी के तट पर पाटलीपुत्र (पटना) नाम का एक नगर है। वहाँ के राजा 'सुदर्शन' समस्त राजोचित गुणों से युक्त थे। एक बार उसने किसी के मुख से उच्चरित दो श्लोक सुने –

अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ।।

– शास्त्र सबके लिए एक ऐसा नेत्र है, जो अनेकों सन्देहों का उच्छेदन करता है और भविष्य में होनेवाले हानि-लाभ को बताता है, जिसके पास वह नहीं है, वह मानो अन्धा ही है।

यौवनं धन-सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ।।

– यौवन, धन-सम्पत्ति, अधिकार और अविचार – इनमें से एक भी हो, तो बड़े अनर्थ की सृष्टि करता है; तो फिर जिसमें चारों एक साथ विद्यमान हों, उसका तो भगवान ही मालिक है!

ये दोनों श्लोक सुनने के बाद राजा अपने शास्त्रों के ज्ञान से रहित, कुमार्गगामी पुत्रों द्वारा शास्त्रों के पठन-पाठन में रुचि न लेने से चिन्तित होकर सोचने लगे – "ऐसे पुत्र से क्या लाभ, जो न विद्वान् हो और न धार्मिक ही हो। कानी आँख के होने से क्या लाभ, क्योंकि वह केवल पीड़ा ही तो देती है। पुत्र का उत्पन्न ही न होना, उत्पन्न होकर मर जाना और उसका मूर्ख होना – इन तीन प्रकार के पुत्रों में से पहले दो तो ठीक हैं, परन्तु अन्तवाला अच्छा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ये दो तो क्षणिक दु:ख देनेवाले हैं, किन्तु अन्तिम तो पग पग पर पीड़ा देता रहता है।" कहा भी तो है – "इस परिवर्तनशील जगत् में कौन नहीं जन्मता-मरता? पर वस्तुत: उसी सन्तान का जन्म लेना सार्थक है, जिससे अपने वंश की उन्नति हो।"

और भी है, "दान, तप, वीरता, विद्या एवं धन में जिसका मन न लगे, वह पुत्र नहीं, अपनी माता का मल मात्र है।

और, "सैकड़ों मूर्ख पुत्रों की तुलना में केवल एक ही गुणी पुत्र होना श्रेयस्कर है। क्योंकि अगणित नक्षत्र जिस अँधेरे को नहीं दूर कर पाते, उसे अकेला चन्द्रमा ही नष्ट कर देता है।"

"जो व्यक्ति किसी पुण्यतीर्थ में कठोर तप किया हो, उसी का पुत्र आज्ञाकारी, धनाढ्य, धर्मात्मा और विद्वान् होता है।"

"हाय पुत्र! इतनी रातें बीत गयीं, पर तुमने पढ़ाई नहीं की। इसलिए आज तुम विद्वानों के बीच में उसी तरह दुखी हो रहे हो, जैसी कीचड़ में फँसी हुई गाय।"

अत: अब मैं किस तरह अपने बेटे को गुणवान बनाऊँ।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।

– भोजन, नींद, भय तथा मैथुन, ये सब बातें तो मनुष्य और पशु दोनों में समानभाव से रहती हैं। मनुष्यों में यदि कोई विशेष बात है तो वह धर्म है। इसलिये जो धर्म से हीन मनुष्य है, वह पशुओं के ही समान है।

क्योंकि – "जिसके पास धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चारों में से एक भी पदार्थ नहीं है, उसका जीवन वैसे ही व्यर्थ होता है, जैसे बकरी के गले में लटकता हुआ स्तन।"

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पंचैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ।।

– "जीव के गर्भ में रहते हुए ही उसकी आयु, कर्म, धन, विद्या और मरण – ये पाँच चीजें निश्चित हो जाती हैं।"

और भी – "होनी तो बड़ों को भी होती है। जैसे भगवान शिव का नंगा रहना और विष्णु का शेषनाग पर सोना।"

और भी – "जो नहीं होने को है, वह नहीं होगा और जो होने को है, वह टल नहीं सकेगा। चिन्तारूपी विष को नष्ट करनेवाली इस औषधि को तुम क्यों नहीं पी लेते।" यह तो कार्य में असमर्थ आलसियों का वचन है।

"मनुष्य को चाहिये कि दैव को सोचकर अपना उद्योग न छोड़े। बिना उद्योग किये कोई तिल में से तेल भी तो नहीं निकाल सकता।" और भी तो है –

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः।।

– उद्योगी पुरुषरूपी सिंह को लक्ष्मी मिलती है। कायर लोग कहते हैं कि 'भाग्य में जो लिखा होगा, मिलेगा।' इसलिये भाग्य को एक ओर रखकर अपनी शक्ति भर पुरुषार्थ करो। इस तरह यत्न करने पर भी यदि सिद्धि न हो तो यह देखो कि मेरे पुरुषार्थ में कहीं कोई त्रुटि तो नहीं हो रही है।

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ।।

– जैसे केवल एक पहिये से रथ नहीं चलता, वैसे ही बिना पुरुषार्थ के भाग्य भी सिद्ध नहीं होता।

"पिछले जन्म में किया हुआ कर्म ही इस जन्म में भाग्य कहलाता है। इसलिए आलस्य को छोड़कर उद्यमपूर्वक प्रयत्न करते रहना ही उचित है।

"जैसे कुम्हार मिट्टी के लौदों से जो चाहता बनाता है, वैसे ही व्यक्ति अपने किये कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करता है।

और – "यदि संयोगवश सहसा किसी को खजाना दिख जाय, तो भी दैव स्वयं आकर उसे नहीं देगा, बल्कि उठाने और ले आने के लिये भी तो पुरुषार्थ की जरूरत पड़ेगी ही।

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।

– "जैसे कि सोते हुये सिंह के मुख में मृग स्वयं ही नहीं घुस जाते, वैसे ही केवल संकल्प करते रहने मात्र से नहीं, बल्कि पुरुषार्थ से कार्य सिद्ध होते हैं।

"जन्म लेते ही कोई पुत्र पण्डित नहीं हो जाता, बल्कि माता-पिता के चेष्टा करने पर बालक गुणी होता है।

"वह माता शत्रु और पिता बैरी है, जिन्होंने अपने पुत्र को नहीं पढ़ाया, क्योंकि हंसों के बीच में कौए के समान वह अपढ़ बालक सभा में शोभित नहीं होता।

"बड़े कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति रूप-यौवन से युक्त होकर भी यदि विद्याहीन है, तो वह वैसे ही सुशोभित नहीं होता जैसे सुगन्ध से रहित ढाक के फूल।

मूर्खोऽपि शोभते तावत्सभायां वस्त्रवेष्ठितः।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किंचिन्न भाषते ।।

– "वस्त्रों से अलंकृत मूर्ख भी विद्वानों की सभा में तब तक तो सुन्दर ही दीखता है, जब तक कि वह कुछ बोलता नही।

यह सब सोचकर राजा ने पण्डितों की सभा बुलाई और कहा – "हे पण्डितो! सुनिये, क्या आप में कोई ऐसा विद्वान् है, जो मेरे उच्छृंखल तथा शास्त्रों से विमुख पुत्रों को नीतिशास्त्र के उपदेश से पुनर्जन्म प्रदान करने की क्षमता रखता हो? क्योंकि – काँच भी स्वर्ण का संग पा जाने पर मरकत मणि (पन्ने) की शोभा प्राप्त कर लेता है, वैसे ही सज्जनों का साथ करने से मूर्ख भी विद्वान् हो जाता है। हे तात! नीच बुद्धिवालों का साथ करने से अपनी बुद्धि भी नीच हो जाती है। समान बुद्धिवालों के संग से समान रहती है और श्रेष्ठ बुद्धिवालों का संग करने से अपनी बुद्धि भी श्रेष्ठ हो जाती है।"

इस पर बृहस्पति के सदृश सम्पूर्ण नीतिशास्त्र के ज्ञाता विष्णु शर्मा नामक महापण्डित बोल उठे, "राजन! आपके ये पुत्र उच्च कुल में पैदा हुए हैं। अतः मैं इन्हें नीतिशास्त्र पढ़ा सकता हूँ। क्योंकि – अयोग्य व्यक्ति पर किया गया कोई भी प्रयास सफल नही होता। सैकड़ों तरह से चेष्टा करके भी कोई बगुले को तोते की भाँति नहीं पढ़ा सकता। और इस उत्तम कुल में कोई गुणहीन पैदा ही नही हो सकता। पुखराज मणि की खान में भला कांच कैसे उत्पन्न होगा? अतः मेरा विश्वास है कि छह महीनों में ही मैं आपके पुत्रों को नीतिशास्त्रों का ज्ञाता बना दूँगा। इस पर राजा ने विनयपूर्वक कहा –

कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ।।

– फूल का संग करने के फलस्वरूप एक कीड़ा भी सज्जनों के मस्तक पर चढ़ जाता है और महापुरुषों के हाथ से स्थापित पत्थर भी देवता का गौरव प्राप्त करते हैं।

और, "जैसे सूर्य के सामीप्य के कारण उदयाचल पर्वत के (गेरू आदि) पदार्थ चमकते हैं, वैसे ही सज्जनों के सान्निध्य में रहने से सामान्य व्यक्ति भी आलोकित होता है।"

"जैसे नदियों का जल सुस्वादु होता है, परन्तु वहीं समुद्र में जाकर खारा तथा पीने के योग्य हो जाता है, वैसे ही गुण गुणियों के पास रहकर गुण कहलाते हैं, परन्तु दुष्टों में हुए तो दोष में परिणत हो जाते हैं।"

अतः आप ही मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र की शिक्षा देने में सक्षम हैं – ऐसा कहकर राजा ने बड़े सम्मान के साथ अपने पुत्र विष्णु शर्मा के हाथों में सौंप दिये।

मित्रलाभ

इसके बाद राजप्रासाद की छत पर बैठे हुए विष्णु शर्मा ने भूमिका के रूप में उन राजपुत्रों से कहना आरम्भ किया –

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ।।

– "बुद्धिमानों का समय काव्य तथा शास्त्रों के रसास्वादन में बीतता है और मूर्खों का समय जूए आदि व्यसनों, निद्रा-आलस्य या लड़ाई-झगड़ों में व्यतीत होता है।"

अतः आप लोगों के मनोरंजन के लिये मैं कौए तथा कछुए आदि की एक विचित्र कहानी सुनाता हूँ। राजपुत्र बोले – "भगवन्! कहिये।" विष्णु शर्मा ने कहा – "सुनो, पहले मैं मित्रलाभ नाम का प्रकरण कहता हूँ। जिसका यह प्रथम श्लोक है – 'साधनहीन और धनरहित होकर भी, बुद्धिमान और गाढ़ी मित्रता रखनेवाले लोग उन कौए, कछुए, हिरण और चूहे की भाँति शीघ्र ही अपना काम बना लेते हैं'।"

राजपुत्रों ने पूछा – "वह कैसे?" विष्णु शर्मा कहने लगे – "गोदावरी नदी के तट पर एक बड़ा भारी सेमल का वृक्ष था। विविध दिशाओं के पक्षी आकर जिस पर रात बिताया करते थे। एक समय की बात है। रात बीत चली थी। कुमुदनी के पति चन्द्रदेव अस्ताचल की चोटियों पर पहुँच चुके थे। तभी लघुपतनक नाम का कौआ जागा और उसने यमराज के समान भयंकर एक बहेलिये को उधर आते देखा। उसे देखकर उसने सोचा – 'आज सबेरे ही बुरा सगुन देखा है।

यह अपशकुन न जाने क्या बुरा दिखलायेगा।'' ऐसा कहकर वह व्याकुलतापूर्वक उसके पीछे पीछे चल पड़ा। क्योंकि –

शोकस्थानि सहस्त्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढामाविशन्ति न पण्डितम् ।।

– ''मूर्ख प्रतिदिन हजारों शोक और सैकड़ों भय के कारण दीख पड़ते हैं, परन्तु पण्डितों को नहीं।''

संसारी आदमी के लिए और भी कहा है, ''सुबह उठकर महान् भय को सामने उपस्थित समझ सोचना चाहिए कि मृत्यु, रोग और शोक में से आज न जाने कौन-सा आ पड़ेगा।''

इसके बाद एक स्थान पर उस बहेलिये ने चावल के कण बिखेरकर अपना जाल बिछा दिया और स्वयं छिपकर बैठ गया। उसी समय कबूतरों के राजा चित्रग्रीव ने अपनी प्रजा के साथ आकाश में उड़ते उड़ते जमीन पर बिखरे हुए चावल के उन कणों को देखा। उन चावल के कणों को देखकर ललचाये हुए कबूतरों से चित्रग्रीव ने कहा – ''पहले इस बात पर विचार करो – इस निर्जन वन में चावल के कणों का आना भला कैसे सम्भव है? मैं इसमें भलाई नहीं देखता। चावल के इन कणों के लोभ में पड़कर शायद हमारी भी वही दशा होगी, जैसी कि उस पथिक की हुई थी, जो कंगन के लोभ से भयंकर दलदल में फँस गया और बूढ़े बाघ द्वारा पकड़कर मार डाला गया।''

कबूतरों ने पूछा – ''यह कैसे हुआ?'' चित्रग्रीव बोला –

कथा १

एक बार मैं दक्षिण के वन में विचरण कर रहा था। तभी मैंने देखा कि एक बूढ़ा बाघ स्नान करके सरोवर के किनारे हाथ में कुश लिये दान करने बैठा कह रहा था, ''हे यात्रियो! यह सोने का कंगन ले जाओ।'' उसकी बात सुनकर भी भय के मारे कोई भी उसके पास नहीं जाता। थोड़ी देर बाद एक लोभी राहगीर ने सोचा – ''भाग्य से यह सम्भव हो सकता है। पर ऐसे जोखिम में सहसा कूद नहीं पड़ना चाहिये। क्योंकि –

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
यत्रास्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ।।

– 'अनिष्ट से यदि इष्टसिद्धि हो जाय तो भी उसका फल अच्छा नहीं होता। क्योंकि विष मिला हुआ अमृत भी तो मृत्यु का कारण बन जाता है।'

''किन्तु धनप्राप्ति में तो सर्वत्र खतरा विद्यमान ही रहता है। कहा भी तो है – 'मनुष्य संकट में पड़े बिना अपना हित साधन नहीं कर सकता। परन्तु एक बार खतरे में पड़कर यदि बच निकलता है, तो उसे कल्याण की प्राप्ति होती है।'

इसलिए 'थोड़ा देखें तो सही' – ऐसा सोचकर वह मुख से बोला – ''कहाँ है तुम्हारा कंगन?'' बाघ ने हाथ बढ़ाकर कंगन दिखा दिया। राहगीर ने कहा – ''तुम जैसे हिंसक जीव पर कैसे विश्वास किया जाय?'' बाघ बोला – ''ओ पथिक्! युवावस्था में मैं बड़ा दुराचारी था। बहुत-सी गायों तथा मनुष्यों को वध करने से मेरे पुत्र मर गये, स्त्री भी चल बसी और मैं निर्वंश हो गया। तब एक महात्मा ने मुझे उपदेश दिया – 'तुम दान-पुण्य करो।' उनके उपदेश से अब मैं प्रतिदिन स्नान करके दान करता हूँ। मुझ वृद्ध के नाखून तथा दाँत बेकार हो गये हैं। तो भी क्या मैं विश्वास योग्य नहीं हूँ? क्योंकि –

इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।

– 'धर्म के आठ मार्ग बताये गये हैं – यज्ञ, स्वाध्याय, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और सन्तोष।'

''इनमें पहले चार तो लोगों को दिखाने के लिये भी किये जा सकते हैं, परन्तु अन्तिम चार महात्माओं में ही रहते हैं।

''लोभ तो मेरा इतना चला गया है कि मैं अपने हाथ का यह सोने का कंगन किसी भी व्यक्ति को दान कर देना चाहता हूँ, पर 'बाघ मनुष्य को खा जाता है' – लोगों के मन से इस धारणा को दूर करना कठिन है, क्योंकि – 'संसार तो भेड़िया-धसान की गति से चलता है। वह गोहत्या करनेवाले ब्राह्मण की बातों को तो प्रामाणिक मान लेगा, परन्तु कुट्टनी स्त्री के उपदेश पर विश्वास नहीं करेगा।' मैंने भी तो धर्मशास्त्र पढ़े हैं। सुनो – महाभारत में भीष्म पितामह कहते हैं – 'हे युधिष्ठिर! जिस प्रकार मरुभूमि में वर्षा होने से आनन्द होता है, ठीक उसी प्रकार भूखों को भोजन मिलने से सुख होता है। अतः गरीबों को दिया हुआ दान ही सार्थक होता है।

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।।

– 'जैसे स्वयं को अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही सभी जीवों को अपने अपने प्राण प्रिय होते हैं। इसीलिए सज्जन लोग सभी जीवों को अपने ही समान मानकर उन पर दया करते हैं।'

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ।।
मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।।

– 'त्याग में, दान में, दुःख में, रुचि और अरुचि में व्यक्ति स्वयं से तुलना करके ही दूसरों के भाव की धारणा करता है। (इस विधि से) जो पराई स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले की भाँति और सब प्राणियों के सुख-दुःख को अपने ही समान जानता है, वही सच्चा पण्डित है।'

''तुम बड़े दुखी दिखाई देते हो, इसलिये मैं तुम्हें कंगन देने का इच्छुक हूँ। कहा भी तो है –

दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधम् पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ।।

– 'हे युधिष्ठिर ! धनवानो को धन न देकर तुम गरीबों का पालन करो। क्योंकि रोगी को ही दवा उपकारी होती है. निरोग व्यक्ति को औषधि देने की क्या उपयोगिता है?' और –

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणि ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।

– 'उसी दान को सात्त्विक कहा जाता है, जो स्थान-काल-पात्र के अनुसार हो और जिसमे प्रत्युपकार की अपेक्षा न हो।'

"इसलिये जाकर इस सरोवर मे स्नान कर आओ और इस सोने के कंगन को ग्रहण करो।"

राहगीर लोभवश उसकी बातों में आकर सरोवर में स्नान करने उतरा और भयानक दलदल में फँसकर बाहर निकल पाने में असमर्थ हो गया। उसे कीचड़ मे फँसा देखकर बाघ ने कहा – "अहा ! तुम तो बड़े दलदल में जा फँसे। मैं अभी आकर तुम्हें निकालता हूँ। यह कहने के बाद धीरे धीरे पास जाकर उसने पथिक को पकड़ लिया। पथिक सोचने लगा –

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ।।

– 'धर्मशास्त्र या वेद का पठन करने मात्र से ही कोई दुष्टात्मा विश्वसनीय नहीं हो जाता। इस विषय में स्वभाव ही सर्वोपरि है, जैसे गाय का दूध स्वभाव से ही मीठा होता है।' और –

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया ।
दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ।।

– 'जिसका मन वश म नही है, उसकी सभी क्रियाएँ हाथी के स्नान की भाँति निष्फल होती हैं। (तालाब से बाहर आकर वह पुनः अपनी देह धूल-धूसरित कर लेता है।) आचरणरहित केवल किताबी ज्ञान विधवा के गहनों की भाँति बोझ-मात्र है।'

"अतः मैंने इस जीवघाती पर विश्वास करके उचित नही किया। कहा भी है –

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृंगिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ।।

– 'नदी, शस्त्रधारी व्यक्ति, नाखूनवाले जीव, सींगवाले पशु, स्त्री और राजाओ पर कभी भी विश्वास नही करना चाहिए।'

क्योंकि, 'हर व्यक्ति की परीक्षा उसके अन्य गुणो से नहीं, बल्कि उसके स्वभाव से ही होनी चाहिए, क्योकि सभी गुणो को दबाकर स्वभाव ही सबके सिर पर सवार रहता है।'

और, 'नभ में विहार करनेवाला, अँधेरे का नाश करनेवाला, हजारो किरणे बिखेरनेवाला और नक्षत्रमण्डल के मध्य संचरण करनेवाला चाँद भी जब भाग्यवश राहु द्वारा ग्रसा जाता है, तो फिर भाग्य का लिखा हुआ मिटाने मे भला कौन समर्थ है?'

ऐसा सोचते हुए वह उस बाघ द्वारा मारकर खा लिया गया। इसीलिए मैं कहता हूँ – 'उस कंकण के लोभ से ..' आदि। अतः कभी बिना विचारे कोई काम न करे। क्योंकि –

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ।।

– 'अच्छी तरह पका हुआ अन्न, खूब विद्वान् पुत्र, भलीभाँति शासित स्त्री, अच्छी तरह सेवित राजा, खूब सोचकर कही हुई बात और बहुत सोच-विचारकर किया हुआ काम बहुत दिनो तक नही बिगड़ता।' ❖ (क्रमशः) ❖

विवेकानन्द की वाणी

नारायण दास बरसैंया

बनाती भव्य भारत को,
विवेकानन्द की वाणी ।
बनाती दिव्य भारत को,
विवेकानन्द की वाणी ।।

उठो, जागो, जगाता ब्रह्म
जैसा तेज योगी का ।
बनाती सिंह भारत को,
विवेकानन्द की वाणी ।।

बनाती भव्य भारत को विवेकानन्द की वाणी ।।

बना लो वज्र सा तन-मन,
समझ में आयेगी गीता ।
बनाती पार्थ भारत को,
विवेकानन्द की वाणी ।।

बनाती भव्य भारत को विवेकानन्द की वाणी ।।

करो तुम घोषणा वीरो
कि तुम हो पुत्र ईश्वर के ।
बनाती ब्रह्म भारत को,
विवेकानन्द की वाणी ।।

बनाती भव्य भारत को विवेकानन्द की वाणी ।।

शिवोऽहम् मन्त्र गूँजा,
सीख लो, ओ सीखने वालो!
सिखाती मन्त्र भारत को,
विवेकानन्द की वाणी ।।

बनाती भव्य भारत को विवेकानन्द की वाणी ।।

स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि

स्वामी विदेहात्मानन्द

एक बार स्वामी जी ने कहा था, ''सम्भव है कि मैं इस शरीर को एक जीर्ण वस्त्र के समान उतारकर बाहर निकल आना पसन्द करूँ, परन्तु मै कार्य करना बन्द नहीं करूँगा। मैं सर्वत्र मानवता को तब तक प्रेरित करता रहूँगा, जब तक कि पूरा जगत् ईश्वर के साथ एकत्व की अनुभूति नही कर लेता।''

सूक्ष्म शरीर मे वे आज भी हमारे बीच विद्यमान है और ज्ञात व अज्ञात रूप से विश्व के करोड़ो प्राणो में प्रेरणा के दीप प्रज्वलित किये जा रहे है, परन्तु अपनी पांचभौतिक काया उन्होंने अब से ठीक सौ वर्ष पूर्व ४ जुलाई १९०२ ई. के दिन छोड़ दी। तब उनकी आयु ३९ वर्ष, ५ माह और २४ दिन थी। बेलूड़ मठ में उनका कमरा अब भी यथावत् संरक्षित है।

दिव्य जन्म तथा कर्म

गीता के चौथे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – ''हे अर्जुन, मेरे और तेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ, पर तू उन्हें नहीं जानता।'' श्रीकृष्ण ईश्वर के प्रतिनिधि हैं और अर्जुन जीवों के। सामान्य जीव अपने पिछले जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप पुनः पुनः जन्म लेता रहता है, और वह उनके बारे में नहीं जानता, परन्तु अवतारी या ईश्वर-कोटि महापुरुष जगत् का हित करने हेतु नरकाया धारण करते हैं। श्रीरामकृष्ण अपने जिन चार या पाँच शिष्यों को ईश्वरकोटि बताया करते थे, उनमें स्वामीजी प्रमुख थे। उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था, ''तू मां का कार्य करने आया है, जब तक उनका कार्य पूरा नहीं हो जाता, तब तक तुझे मुक्ति नहीं मिलेगी।'' और उनके विषय में बहुत-सी बातें बताते हुए कहा था – ''जब यह जान लेगा कि 'मैं कौन हूँ', तो इसका शरीर नहीं रहेगा।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि एक विशेष उद्देश्य के साथ उनका इस जगत् में आना हुआ था।

पूर्व संकेत - इच्छामृत्यु का वर

पिछले कई वर्षो से वे अपने लीला-समापन के कुछ संकेत दे रहे थे। १८९७ ई. के ११ अगस्त को उन्होंने स्वामी अच्युतानन्द से कहा था, ''केवल पाँच-छह वर्ष और रहूँगा।''

१८९८ ई. में वे अपने कुछ विदेशी शिष्यो के साथ लिए हिमालय-भ्रमण तथा अमरनाथ-दर्शन को गये। २ अगस्त के दिन जब उन्होंने भगवान शिव की गुहा में प्रवेश किया, तो वह स्थान महादेव की स्तुति तथा 'हर हर बम बम' की ध्वनि से गूंज रहा था। भावविह्वल चित्त से उन्होंने कई बार हिमलिंग को प्रणाम किया और कुछ मिनटों तक खड़े खड़े ही ध्यान में डूबे रहने के बाद वे गुहा से बाहर निकल आये। बाद मे उन्होने बताया कि वहाँ मानो उनके लिए स्वर्ग के द्वार ही उघड़ गये थे। भावावेश मे मूर्च्छा आ जाने के भय से बड़ी कठिनाई से उन्होंने स्वयं को सँभाला था। उन्हे बोध हुआ कि हिमलिंग मानो साक्षात् शिव है। बाद में उन्होने बताया कि वहाँ का चित्तविह्वलकारी दर्शन मानो घूर्णावर्त की भाँति उन्हें अपने भीतर खीच रहा था। उस समय उनकी देह अत्यन्त थक गयी थी और बाद में डॉक्टर ने बताया कि उनकी हृदय-गति रुक जाने की सम्भावना थी, तो भी उस समय उनके हृदय के आकार में सदा के लिए वृद्धि हो गयी थी। इस दर्शन का प्रभाव उन पर इतना गम्भीर हुआ कि वे तब से सर्वदा शिवजी के भाव में विभोर रहा करते थे। उस दिन बचपन से चली आ रही उनके बारे मे यह भविष्यवाणी कट गयी कि पहाड़ों के बीच किसी शिव-मन्दिर में उनका देहान्त होगा। भगवान अमरनाथ ने उन्हे इच्छामृत्यु का वर प्रदान किया था।

उसके बाद काश्मीर में ही स्थित देवी क्षीरभवानी के मन्दिर में घटी घटना भी उनके कार्य की समाप्ति की द्योतक थी। ३० सितम्बर (१८९८) के दिन वे देवी के मन्दिर में गये और एक सप्ताह वहीं एकान्त-वास किया। इन दिनों हुई कुछ गहन अनुभूतियों से उन्हें संकेत मिला कि इस पृथ्वी पर उनका कार्य पूरा हो चुका है। देवी का मन्दिर सैकड़ों वर्ष पूर्व मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा ध्वस्त कर डाला गया था और खण्डहर के बीच एक आले में जगदम्बा की मूर्ति स्थापित थी। माँ का ऐसा अपमान देखकर उनके मन में बड़ा क्षोभ हुआ और वे सोचने लगे, ''लोगों ने ऐसा क्यों होने दिया? क्या वे अपने बाहुबल से इसे रोक नही सकते थे। मैं रहता, तो कदापि ऐसा न होने देता; अपने प्राणों तक की बाजी लगा कर मैं माँ की रक्षा करता।'' इस पर उन्हें माँ की दैवी वाणी सुनाई दी, ''मै तेरी रक्षा करती हूँ या तू मेरी रक्षा करेगा? विधर्मियों ने मेरा मन्दिर अपवित्र किया, तो इसमें तेरा क्या आता-जाता है?'' अन्य एक दिन उनके मन में आया कि वे धन-संग्रह करके इस खण्डहर के स्थान पर एक भव्य मन्दिर बनवायेंगे। माँ ने तत्काल कहा, ''बेटा! मैं चाहूँ तो असंख्य मठ-मन्दिर बनवा सकती हूँ। मैं इसी क्षण इसी स्थान पर सतमंजला स्वर्ण-मन्दिर खड़ा कर सकती हूँ।'' वहाँ से लौटकर अपने शिष्यों के समक्ष उन्होंने इस अनुभूति का वर्णन करते हुए कहा, ''अब मेरा सारा देशप्रेम चला गया है। सब कुछ चला गया है। अब बचा है केवल 'माँ' 'माँ'। मुझसे बड़ी भूल हुई।'' फिर उन्हाने बताया कि आध्यात्मिक दृष्टि से अब वे इस जगत् से सम्बद्ध नहीं रह गये हैं। बाद में उन्होंने एक अन्य शिष्य से

कहा था, "उस देववाणी को सुनने के बात से मैंने योजनाएँ बनानी छोड़ दीं। माँ की इच्छानुसार ही सब होगा।"

काश्मीर में ही एक दिन बीमारी के पश्चात् उन्होंने दो प्रस्तर खण्डों को हाथ में लेकर निवेदिता से कहा था, "जब भी मृत्यु मेरे पास आती है, तो मेरी सारी दुर्बलता लुप्त हो जाती है। तब मुझमें भय या सन्देह या बाह्य-जगत का विचार – यह सब कुछ भी नहीं रहता। मै केवल अपने आपको मृत्यु के लिए प्रस्तुत करता रहता हूँ। उस समय मैं इतना कठोर हो जाता हूँ" – यह कहकर उन्होंने अपने हाथ के प्रस्तर खण्डों को आपस में टकराया और बोले, "क्योंकि मैंने भगवान के चरण स्पर्श किए है !"

७ अप्रैल १९०० को उन्होंने एक पत्र में लिखा, "मेरी नौका क्रमशः उस शान्त बन्दरगाह की ओर चली जा रही है, जहाँ से उसे कभी बाहर न आना होगा। जय माँ ! जय माँ ! अब मुझे किसी भी प्रकार की इच्छा या महत्त्वाकांक्षा नहीं है।" फिर १२ अप्रैल को उन्होंने एक अन्य मित्र के नाम लिखा, "माँ ही अपना काम कर रही हैं; मैं अब अधिक चिन्ता नहीं करता। प्रतिक्षण मेरे समान हजारों कीट-पतंग मरते रहते हैं, पर उनका काम यथावत् चलता रहता है। माँ की जय हो ! दक्षिणेश्वर में वटवृक्ष के नीचे श्रीरामकृष्ण के साथ रात्रि-जागरण की स्मृतियाँ एक बार फिर से जाग्रत हो रही हैं। और काम? काम क्या है? किसका काम? किसके लिए मैं काम करूँ? मै स्वतंत्र हूँ; माँ का बालक हूँ। वे ही काम करती हैं, वे ही खेलती हैं। मैं क्यों संकल्प करूँ? क्या संकल्प करूँ? बिना मेरे संकल्प के माँ की इच्छानुसार ही चीजें आयीं और गयीं। हम उनके यंत्र हैं, वे कठपुतली की भाँति नचाती हैं।"

बेलूड़ मठ के ट्रस्ट के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करके उसका भार अपने गुरुभाइयों को सौंपने के बाद २५ अगस्त १९०० को वे पेरिस से लिखते हैं, "अब मैं स्वतंत्र हूँ, किसी बन्धन में नहीं हूँ, क्योंकि रामकृष्ण मिशन के कार्यों में अब मेरा कोई अधिकार, कर्तृत्त्व या किसी पद का उत्तरदायित्व नहीं है। मैं उसका अध्यक्ष-पद भी छोड़ चुका हूँ। अब मठ आदि का सारा उत्तरदायित्व श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों पर है, मुझ पर नहीं। अब यह सोचकर मुझे विशेष आनन्द का बोध हो रहा है कि मेरे सिर से एक भारी बोझ दूर हो गया ! बीस वर्ष तक निरन्तर मैंने श्रीरामकृष्ण की सेवा की – चाहे उसमें भूलें हुई हों या सफलता मिली हो – अब मैने कार्य से छुट्टी ले ली हैं। अपना बाकी जीवन अब मैं अपनी भावनाओं के अनुसार व्यतीत करूँगा।"

इससे भी स्पष्ट आभास उन्होंने १९०१ ई. में दिया था। ढाका में एक दिन आम सभा में भाषण देने के बाद वे गम्भीर स्वर में बोले, "मैं अधिक-से-अधिक एक वर्ष और हूँ। अब माँ को कुछ तीर्थों के दर्शन करा लाने से ही मेरा कर्तव्य पूरा हो जाएगा। इसीलिए चन्द्रनाथ और कामाख्या जा रहा हूँ।"

कई अन्य छोटी-मोटी घटनाएँ भी स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से सूचित कर रही थीं कि स्वामीजी की मर्त्यलीला अब समाप्तप्राय है, उनके जीवन के अब थोड़े ही दिन बच रहे हैं; परन्तु ऐसा कठोर सत्य भला कौन स्वीकार करना चाहता था? उन दिनों सभी सोचते थे – नहीं, स्वामीजी इतने शीघ्र अपने प्रियजन को छोड़कर नहीं जा सकते। उस समय वे उक्तियाँ या आभास गृहीत न होने पर भी उनके लीला-संवरण के पश्चात् वे सबको तात्पर्ययुक्त प्रतीत हुए थे।

८ मार्च को वाराणसी से लौटने के बाद से वे स्वयं को क्रमशः हर तरह के उत्तरदायित्व से खींच रहे थे। अपने सभी संन्यासी शिष्यों को देखने की अभिलाषा से उन्होंने अपने हाथ से पत्र लिखकर उन्हें दो-एक दिन के लिए आकर मिल जाने का अनुरोध किया था। उनमें से कई पत्र पाते ही आ गए थे, परन्तु कोई कोई कार्याधिक्य के कारण नहीं आ सके – बाद में जब उन लोगों ने सुना कि वे इहलोक में नहीं रहे तो दर्शन का अन्तिम मौका खोकर उनके शोक का ठिकाना न रहा।

शारीरिक असमर्थता के कारण और साथ ही अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यों को कार्य का उत्तरदायित्व सौंपकर उन्हें योग्य बनाने के लिए ही वे सभी कार्यों से मुक्त हो रहे थे। स्वामी शिवानन्द के २ जून (१९०२) के पत्र से ज्ञात होता है कि स्वामीजी आँखों की बीमारी के कारण बहुधा स्वयं पढ़ या लिख नहीं पाते थे। और शिष्यों के हाथ में कार्यभार सौंपने के बारे में उन्होंने स्वयं ही कहा था, "बहुधा देखने में आता है कि लोग शिष्यों को सर्वदा अपने साथ रखकर उन्हें बरबाद कर डालते हैं ! एक बार आदमी तैयार हो जाने के बाद यह जरूरी है कि नायक उन्हें छोड़ दें, क्योंकि उनकी अनुपस्थिति के बिना वे लोग अपना विकास नहीं कर सकते।" ये बातें सुनकर शिष्यगण विषादग्रस्त हो जाते और सोचते कि उनके इतने शीघ्र चले जाने पर बहुत बड़ी हानि हो जाएगी।

वे अपने पार्थिव बन्धनों को क्रमशः छिन्न किए जा रहे थे। वे सर्वदा ध्यान में डूबे रहते और ठाकुर तथा जगदम्बा के चरणों में लीन हो जाने की व्यग्रता प्रकट करते। सबने देखा कि प्रत्येक विषय में मानो उनका एक तरह के उदासीनता का भाव है और सशंक चित्त से वे लोग श्रीरामकृष्ण की उस भविष्यवाणी का स्मरण करते, "वह जब स्वयं को जान लेगा, तो फिर वह देह नहीं रखेगा।" एक दिन पुरानी बातों पर चर्चा के दौरान एक गुरुभ्राता ने उनसे पूछा, "स्वामीजी, क्या अब आप समझ सके है कि आप कौन है?" स्वामीजी ने निःसंकोच उत्तर दिया, "हाँ, समझ तो गया हूँ।" इस उत्तर पर सभी लोग स्तब्ध हो गए और किसी के मुख से कोई बात नही

निकली। वे लोग समझ गए कि आशादीप बुझने में अब अधिक देरी नहीं है; किसी भी दिन वे प्रयाण कर सकते हैं।

मिस मैक्लाउड अपनी स्मृतिकथा में लिखती हैं – "बेलूड़ मठ में एक दिन (२८ मार्च, १९०२) भगिनी निवेदिता एक क्रीड़ा-प्रतियोगिता के पुरस्कारों का वितरण कर रही थीं। मैं स्वामीजी के शयनकक्ष में खिड़की के पास खड़ी होकर देख रही थी। उसी समय उन्होंने कहा, 'मैं कदापि चालीस पूरा नहीं करूँगा।' मैं जानती थी कि तब्र उनकी आयु उन्तालिस वर्ष थी; इसीलिए मैं बोली, 'पर स्वामीजी, बुद्ध के जीवन के महान् कार्य तो उनकी आयु के चालीस और अस्सी वर्ष के बीच ही हुए थे।' तो भी वे बोले, 'मैंने अपना सन्देश दे दिया है और अब मुझे जाना ही होगा।' मैंने पूछा, 'क्यों जाएँगे?' उन्होंने उत्तर दिया, 'बड़े वृक्ष की छाया छोटे वृक्षों को बढ़ने नहीं देती; उनके लिए जगह बनाने को मुझे जाना ही होगा'।"

जून के आखिरी सप्ताह में एक दिन स्वामीजी ने अपने शिष्य शुद्धानन्द को पंचांग लाने को कहा। पंचांग आ जाने पर उन्होंने उस तिथि के बाद के कुछ पन्ने पलटने के पश्चात् उसे अपने कमरे में ही रख दिया। तब से कभी कभी वे उसके पन्ने पलटते हुए दिखाई देते, मानो उसमें कुछ ढूँढ़ रहे हों। उनकी महासमाधि के बाद सभी लोग समझे कि वे क्यों इतने एकाग्र-चित्त से पंचांग देखा करते थे और उन्हें याद हो आया कि श्रीरामकृष्ण ने भी अपने देहत्याग के पूर्व ऐसा ही किया था।

२९ जून, रविवार को यह सुनकर कि निवेदिता आई हैं, वे मन्दिर से नीचे उतर आए थे, अन्यथा और भी काफी समय तक ध्यानमग्न रहते।

१ जुलाई को तीसरे पहर मठ के हरे-भरे मैदान में टहलते हुए स्वामीजी ने दक्षिणी ओर गंगातट पर बिल्व वृक्ष के पास एक स्थान की ओर संकेत करते हुए गम्भीरतापूर्वक कहा था, "मेरा शरीर जाने पर, वहीं अन्तिम संस्कार करना।" उनके आदेश का पालन हुआ था और बाद में वहीं पर उनका समाधि-मन्दिर निर्मित हुआ।

देहत्याग के दो दिन पूर्व वे बोले, "जो आध्यात्मिक शक्ति इस बेलूड़ में प्रकट हुई है, वह डेढ़ हजार वर्षों तक रहेगी – यह एक महान् विश्वविद्यालय का रूप लेगा। ऐसा मत सोचना कि यह मेरी कल्पना है, मैं इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।"

पर उनके दृढ-मनोबल से युक्त चरित्र में भी निवेदिता को एक जगह थोड़ी-सी दुर्बलता दीख गयी थी; युग-प्रवर्तन के दिन समाप्ति को आ जाने पर भी उनके मन में जब अकारण ही सन्देह का उदय होता कि कहीं उनका सारा प्रयास व्यर्थ तो नहीं चला जाएगा, तब उनका चित्त खिन्न हो जाता था। २९ जून, रविवार को उन्होंने निवेदिता से कहा, "देखो, कार्य सदा से ही मेरी दुर्बलता रही है! जब मैं सोचता हूँ कि यह सब समाप्त हो जाएगा, तो मैं बिल्कुल हताश हो जाता हूँ।" वीर संन्यासी विवेकानन्द को अपने लिए कोई चिन्ता न थी, परन्तु विश्वप्रेमी विवेकानन्द पर गुरुदेव द्वारा जो कार्यभार सौंपा गया था, उसके प्रति वे उदासीनता नहीं दिखा सकते थे।

निवेदिता लिखती हैं, "और यद्यपि हम लोगों ने स्वप्न में भी नही सोचा था कि वे कम-से-कम तीन-चार वर्ष के पूर्व हमें छोड़कर चले जाएँगे, तथापि हमें ज्ञात था कि उनकी बातें सत्य हैं। इन दिनों वे दुनिया की खबरें सुनकर नाममात्र की ही प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे। सामायिक समस्याओं पर भी उनकी राय पूछना अब निरर्थक हो गया था। वे शान्त भाव से कहते, 'तुम्हारा कथन ठीक हो सकता है, परन्तु मैं अब इन बातो पर ध्यान नही दे सकता। मैं मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा हूँ'।"

२ जुलाई, बुधवार को एकादशी के दिन उन्होंने निर्जला उपवास किया और निवेदिता को अपने हाथ से मध्याह्न का भोजन परोसने के लिए हठ करने लगे। उबले हुए कटहल के बीज, आलू, चावल तथा ठण्डा किया हुआ दूध – प्रत्येक वस्तु देते समय वे उसके विषय में विनोदपूर्ण बातें कहते रहे। अन्त में भोजन समाप्त हो जाने पर उन्होंने स्वयं ही उसके हाथों पर जल ढालकर तौलिए से उन्हें पोंछ दिया था। जैसा कि स्वाभाविक था, शिष्या ने प्रतिवाद करते हुए कहा, 'स्वामीजी, यह सब तो मुझे ही आपके लिए करना उचित है, आपका मेरे लिए नहीं।' परन्तु उनका गम्भीर उत्तर बड़ा ही विस्मयजनक था, 'ईसा ने भी तो अपने शिष्यों के पाँव धो दिए थे।' इसके उत्तर में शिष्या के होठों पर आते आते रह गया, 'परन्तु वह तो अन्त समय था!' और ये शब्द अनकहे ही रह गए। अच्छा ही हुआ। क्योंकि यहाँ भी अन्तिम समय आ पहुँचा था।

"इन कुछ दिनों के दौरान स्वामीजी की बातों या चाल-चलन में कुछ भी विषादपूर्ण या गम्भीर न था। कहीं वे अत्यधिक थक न जायँ, इस चिन्ता के कारण हम लोग जान-बूझकर वार्तालाप को छोटी-मोटी बातों तक ही सीमित रखते थे। उनके पालतू पशु, उद्यान, उनके विविध प्रकार के प्रयोग, पुस्तकें तथा अनुपस्थित मित्र – इन्हीं विषयों पर बातें होती। परन्तु इन सब के बावजूद भी उस समय हम लोग उनमें एक ज्योतिर्मय सत्ता का बोध करते और उनका स्थूल शरीर मानो उसी की छाया अथवा प्रतीक मात्र प्रतीत होता। तथापि कोई भी यह नहीं समझ सका था कि इतने शीघ्र – विशेषकर उस ४ जुलाई, शुक्रवार के दिन – सब कुछ समाप्त हो जाएगा, क्योंकि उस दिन वे इतने स्वस्थ एवं सबल लग रहे थे, जितने अनेक वर्षों से नहीं दिखे थे और इस कारण वह दिन बड़ा शुभ लग रहा था।"

२ जुलाई, बुधवार को उन्होंने निवेदिता से कहा, "मुझमें एक महा-तपस्या तथा ध्यान का भाव जागा है और मैं मृत्यु के

लिए तैयारी कर रहा हूँ।'' उस दिन निवेदिता से वार्तालाप करते हुए स्वामीजी ने अपने पाश्चात्य शिष्य-शिष्याओं तथा बन्धु-बान्धवों का प्रसंग भी उठाया था। कुमारी मैक्लाउड के विषय में उन्होंने कहा, ''वह पवित्रता के समान ही पवित्र है और स्नेह के समान ही स्नेहमयी है।'' निवेदिता से यह बात जानने के बाद मैक्लाउड के मन में ऐसा विश्वास जन्मा कि उनके प्रति स्वामीजी का यही अन्तिम सन्देश है।

अन्तिम दिवस

कुछ दिनों से उनका ऐसा ही स्नेह-प्रीतिमय व्यवहार चल रहा था। महासमाधि के दिन भी आसन्न आपदा अज्ञात ही रह गयी, वैसे बाद में उस दिन की विभिन्न घटनाओं पर विचार करके सबने उनके उस दिन के व्यवहार में एक अभूतपूर्व स्वाच्छन्द्य, दृढ़ता, कर्मोद्यम, प्रीतिपूर्ण चर्चा आदि बातों का स्मरण किया था और इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि यह सब कुछ एक गम्भीर भाव का द्योतक था – मानो दीप बुझने के पूर्व का अत्युज्ज्वल प्रकाश था! उस दिन प्रात:काल चाय पीते समय उन्होंने गुरुभाइयों के साथ पुराने दिनों की बहुत-सी बातें कीं और अगले दिन शनिवार तथा अमावस्या होने के कारण उस रात कालीपूजा हो, ऐसी इच्छा व्यक्त की। इसके किंचित् काल बाद ही स्वामी रामकृष्णानन्द के पिता, माँ काली के परम भक्त तथा साधकप्रवर श्रीयुत ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य आ पहुँचे। स्वामीजी आनन्दपूर्वक उच्च स्वर में कह उठे, ''अरे, भट्टाचार्य महाशय भी आ गए हैं।'' तत्काल ही उन्होंने स्वामी शुद्धानन्द तथा बोधानन्द को पूजा का आयोजन तथा उसके लिए सामग्रियों का संग्रह करने को कहा। वे लोग भी उस कार्य में जुट गए।

इसके बाद लगभग साढ़े आठ बजे स्वामीजी मन्दिर में जाकर ध्यान में बैठे, फिर साढ़े नौ बजे प्रेमानन्द के पूजा करने आने पर उन्होंने उनसे अपने ध्यान का आसन ठाकुर के शयनकक्ष मे लगा देने तथा सभी दरवाजे बन्द कर देने को कहा और वे वही ध्यान करने बैठे। अन्य दिन वे पूजा के कमरे मे ही बैठकर ध्यान करते थे। लगभग ग्यारह बजे तक ध्यान करने के बाद वे – 'माँ कि आमार कालो? कालरूपा एलोकेशी हृदिपद्म करे आलो' – आदि भजन गाते हुए ऊपर से नीचे उतरकर प्रांगण में टहलने लगे। स्वामी प्रेमानन्द ने उन्हे अस्पष्ट स्वर में कहते हुए सुना, ''यदि एक और विवेकानन्द रहता तो समझ पाता कि विवेकानन्द क्या कर गया। परन्तु समय आने पर ऐसे सैकड़ों विवेकानन्द जन्म लेंगे।'' अत्यन्त उच्च अवस्था मे आरूढ़ हुए बिना अपने विषय में स्वामीजी ऐसा कुछ नही बोलते थे; अतएव इन बातो ने स्वामी प्रेमानन्द को खूब विचलित कर दिया।

इसके बाद शास्त्रचर्चा आरम्भ हुई। स्वामीजी के आदेश पर स्वामी शुद्धानन्द पुस्तकालय से शुक्ल यजुर्वेद ले आए और भाष्य के साथ निम्नलिखित मंत्र का पाठ करने लगे –

सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वस्तस्य
नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु
तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ।।

(वाजसनेयसंहिता, माध्यन्दिनशाखा, १८/४०)

इसके महीधरकृत भाष्य के सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा, ''यह व्याख्या मुझे ठीक नही प्रतीत होती। भाष्यकार सुषुम्नः पद की चाहे जो भी व्याख्या करें परन्तु परवर्ती काल मे तन्त्र आदि में जिसे देह के भीतर स्थित सुषुम्ना नाड़ी कहा गया है, उसी का बीज इस वैदिक मन्त्र में निहित है। तुम लोग इन श्लोकों के वास्तविक मर्म ढूँढ़ निकालने का प्रयास करना। शास्त्रो के अर्थ के विषय में स्वयं प्रयास करना, तभी उनकी मौलिक व्याख्या निकाल सकोगे।'' इस मंत्र की इस व्याख्या तथा अगले दिन काली पूजा की अभिलाषा से बाद में स्पष्ट समझा गया था कि उस दिन स्वामीजी का मन षट्चक्रभेद तथा तंत्रसाधन की प्रक्रिया पर विशेष रूप से विचार कर रहा था। फिर कौन जाने अगले दिन अमावस्या को काली पूजा की कामना के पीछे भी कोई भावी संकेत छिपा रहा हो!

वे सामान्यत: अपने कमरे में ही अलग भोजन करते थे, तथापि ४ जुलाई को दोपहर मे उन्होने सबके साथ नीचे बैठकर विशेष तृप्ति तथा रुचि के साथ भोजन किया। आहार के पश्चात् थोड़ी देर विश्राम करके एक बजे अर्थात् अन्य दिनो की अपेक्षा एक-डेढ़ घण्टे पूर्व ही उन्होने स्वयं ही ब्रह्मचारियो के कमरों में जाकर उन्हें संस्कृत कक्षा में सम्मिलित होने को बुलाया। इसके बाद तीन घण्टों तक व्याकरण पर चर्चा चलती रही। स्वामीजी ने वरदराज के लघु कौमुदी के सूत्रों को लेकर, विविध प्रकार की हास्योद्दीपक कथाओं के साथ उन्हे जोड़ते हुए और सूत्र की भाषा के सम्बन्ध मे व्यंग का आश्रय लेते हुए, उस शुष्क व्याकरण शास्त्र को हँसी के हिलोरो मे परिणत कर दिया। इसके फलस्वरूप उस शास्त्र की बाते ब्रह्मचारियो के मन मे चिरकाल के लिए घर कर गयी। कॉलेज मे पढ़ते समय एक बार इसी प्रकार उन्होंने अपने सहपाठी दाशरथी सान्याल को इंग्लैण्ड का पूरा इतिहास एक ही रात में पढ़ा दिया था। उस दिन पाठ की समाप्ति पर स्वामीजी थोड़े थके हुए दीख रहे थे, परन्तु मन उनका तब भी काफी प्रफुल्ल था।

उसी दिन शाम को वे स्वामी प्रेमानन्द के साथ बेलूड़ बाजार तक घूम आए। स्वास्थ्य बिगड़ने के बाद से स्वामीजी प्राय: इतनी दूर नही जाते थे। उस दिन उन्हे किसी भी प्रकार के कष्ट का अनुभव नही हुआ, बल्कि वे बोले कि शरीर खूब हल्का प्रतीत हो रहा है। प्रेमानन्दजी के साथ हुई चर्चा मे एक मुख्य विषय उनकी वेद विद्यालय स्थापित करने की योजना भी

थी। प्रेमानन्दजी ने पूछा था, "वेद पढ़ने से क्या लाभ होगा?" स्वामीजी से सारगर्भित संक्षिप्त उत्तर मिला, "और कुछ न भी हो, तो अन्धविश्वास दूर होंगे।"

संध्या के किंचित पूर्व मठ लौटकर स्वामीजी ने मठवासियों के साथ वार्तालाप किया और सबसे कुशल आदि पूछे। तदुपरान्त सन्ध्या-आरती का घण्टा बजने पर वे अपने कमरे में प्रविष्ट होकर गंगा की ओर मुख किए ध्यान मे बैठ गए। उस समय सन्ध्या के सात बजे थे। व्रजेन्द्र नामक एक ब्रह्मचारी समीप ही उपस्थित थे। ध्यान में बैठने के पूर्व स्वामीजी ने जप की माला हाथ में ली और ब्रह्मचारी को बाहर बैठकर ध्यान करने का आदेश दिया। लगभग घण्टे भर बाद उन्होंने ब्रह्मचारी को भीतर बुलाकर सिर पर हवा करने को कहा और गरमी लगने के कारण कमरे के समस्त दरवाजे-खिड़कियो को खोल देने का कहकर लेट गए। माला तब भी उनके हाथ में ही थी। थोड़ी देर बाद उन्होंने शिष्य से पाँव दबा देने को कहा। इसी प्रकार और भी एक घण्टा बीत जाने पर स्वामीजी ने करवट बदली और दाहिने करवट लेटे और एक छोटे बालक के क्रन्दन के समान उनके मुख से एक अस्फुट ध्वनि निकली। उस समय रात के नौ बजे थे। उनका दाहिना हाथ थोड़ा सा काँप उठा और इसके साथ ही एक गहरी साँस निकली तथा मस्तक तकिये से लुढ़क गया। और भी दो-एक मिनट बाद उन्होंने पूर्ववत ही और भी एक लम्बी साँस छोड़ी – इसके बाद सब कुछ स्थिर हो गया, मानो एक थके-मादे शिशु को माँ की गोद मे विश्राम मिल गया हो। उस समय उनके दोनों नेत्र उनके भौहों के बीच स्थिर थे और उनके प्रशान्त मुखमण्डल पर एक स्वर्गीय ज्योति फैली हुई थी – लगता था मानो महायोगी महाध्यान में निमग्न हो। उस समय नौ बजकर दस मिनट मात्र हुए थे।

अल्पवयस्क ब्रह्मचारी कुछ समझ न पाकर जल्दी से एक वयस्क साधु (सम्भवत: स्वामी निश्चयानन्द) को बुला लाए। अभी अभी रात के भोजन का घण्टा बजा था। साधु ने आकर नाड़ी देखी, पर कुछ समझ नही सके, अत: उन्होंने एक अन्य साधु (सम्भवत: स्वामी प्रेमानन्द) को बुलाया। दोना ने देखा तो नाड़ी मिली नही। ऐसी दु:सह वास्तविकता को भला कोई सहज ही कैसे स्वीकार कर लेता! इसलिए उपस्थित सभी लोग इसे समाधि की अवस्था समझकर उच्च स्वर में उन्हें श्रीरामकृष्ण का नाम सुनाने लगे; पर उनकी समाधि नहीं टूटी। हाय! हाय! तो क्या यह महासमाधि है? क्षण भर में ही अन्य साधु लोग भी आ पहुँचे। स्वामी अद्वैतानन्द की सलाह पर स्वामी बोधानन्द ने भलीभाँति नाड़ी देखी; काफी समय तक उसका कोई आभास न मिलने पर वे जोरो से रो पड़े। तब अद्वैतानन्द ने निर्भयानन्द से कहा, "हाय! हाय! अब देखते क्या हो? शीघ्र महेन्द्र डॉक्टर (वराहनगर के महेन्द्रनाथ मजूमदार) को बुला लाओ।" एक जन तुरन्त ही डॉक्टर को बुलाने दौड़ पड़े और एक जन कलकत्ते में स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी सारदानन्द को सूचना देने चले गए। रात के साढ़े दस बजे वे दोनों ही मठ मे आ पहुँचे। स्वामी ब्रह्मानन्द के लिए अपने बाल्यसखा, श्रीरामकृष्ण-लीलासहचर, संघनायक स्वामीजी के सहसा अन्तर्धान हो जाने का दुःख असहनीय था, वे दौड़कर उनके सीने से लिपट गए। स्वामी सारदानन्द द्वारा बड़े कष्टपूर्वक उठाकर लाए जाने के पश्चात् उन्होने रुँधे हुए कण्ठ से कहा, "सामने से मानो हिमालय पहाड़ अदृश्य हो गया।" यथासमय डॉक्टर ने भी आकर जाँच की, कृत्रिम उपाय से श्वास-प्रश्वास क्रिया को पुन: आरम्भ करने का प्रयास किया; पर उसका भी कोई फल नही निकला। रात के बारह बजे उन्होंने कहा कि प्राणवायु निकल चुकी है।

देह निष्प्राण हो जाने पर भी उसमे किसी प्रकार का विकार दृष्टिगोचर नही हुआ और ऐसे भी कोई लक्षण नही दीख पड़े, जिनके परिणामस्वरूप जीवनान्त हुआ हो – वह स्वस्थ, सबल तथा जीवन्त लग रही थी। मृत्यु मे भी वह पूतदेह समाधिमग्न महादेव का ही स्मरण करा रही थी। उनके दोनो पद्मचक्षु ऊपर की ओर चढ़े हुए थे; परन्तु उनके श्वेत अंश से तब भी ज्योति विकरित हो रही थी। वह रात इसी प्रकार बीती। इस प्रकार ४ जुलाई, १९०२ ई., शुक्रवार को अमेरिका के स्वाधीनता दिवस के उत्सव के बीच ही स्वामीजी अपने देहबन्धन को विछिन्न करके स्व-स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो गए।

प्रात:काल देखने में आया कि उनके दोनों नेत्रो में जवा पुष्प के समान लालिमा आ गयी है और नासिकाद्वार तथा मुख पर रक्त के चिह्न है। बाद मे सुविज्ञ डॉक्टर विपिनचन्द्र घोष आए। उन्होंने सब कुछ देख-सुन तथा जाँचकर मत दिया कि रक्ताघात के कारण देहान्त हुआ है, महेन्द्र बाबू बता गए थे कि हृदय-गति रुक जाना ही महाप्रयाण का कारण है। इसके बाद अन्य डॉक्टरो ने आकर अपने अपने मत व्यक्त किए। किसी किसी ने कहा कि सिर की नस फट जाने से ऐसा हुआ। पर साधु एवं भक्तों ने समझ लिया कि ध्यान करते करते स्वामीजी की प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर अनन्त मे विलीन हो गयी है। श्रीरामकृष्ण जो कहा करते थे वही हुआ है – स्वामीजी ने योग के द्वारा समाधिमार्ग से देहत्याग किया है। ❑❑❑

अहं और आत्मविश्वास

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

कहा जाता है कि हमें आस्थावान बनना चाहिए, पर प्रश्न उठता है – आस्था किसके प्रति? अपने प्रति या ईश्वर के प्रति? आस्थाहीनता को नास्तिकता भी कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द नास्तिकता को एक नयी व्याख्या देते हैं, ''पुराने धर्मों ने कहा कि वह नास्तिक है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है कि वह नास्तिक है, जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।'' इस प्रकार स्वामीजी आत्मविश्वास की वकालत करते हैं। उनका तर्क यह है कि जो व्यक्ति अपने में विश्वास नहीं कर सकता, वह ईश्वर में क्या विश्वास करेगा? ईश्वर में आस्था रखने के पूर्व शर्त है अपने में, अपनी शक्ति में आस्था रखना।

पर आत्मविश्वास को अहंकार का पर्याय नहीं मान लेना चाहिए। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। अहंकार में दम्भ होता है, जिसका आत्मविश्वास में एकदम अभाव होता है। अहंकारी व्यक्ति को आत्मविश्वासी नहीं कह सकते, क्योंकि तनिक-सी चोट से अहंकारी अपने सन्तुलन को खो बैठता है और विश्वासहीनता का शिकार हो जाता है। आत्मविश्वासी विपरीत परिस्थितियों में भी अपना धैर्य और सन्तुलन नहीं खोता। गीता में इन दो प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण किया गया है। आत्मविश्वासी के लिए कहा है –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

– वह अपने द्वारा अपने आपका उद्धार करता है, स्वयं के द्वारा अपने आपको अधोगति में नहीं ले जाता, क्योंकि वह जानता है कि व्यक्ति अपने स्वयं का मित्र भी है और शत्रु भी। प्रश्न उठता है कि वह अपना मित्र और शत्रु दोनों कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए गीता कहती है –

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

– जब वह अपने पुरुषार्थ से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों को जीत लेता है, तब वह अपने आपका मित्र है, पर जब वह इस प्रकार तन, मन और इन्द्रियों को अपने अधीन नहीं कर पाता, तब स्वयं ही स्वय का शत्रु बन जाता है।

अभी कहे गये दो श्लोकों में आत्मविश्वास की महिमा ही कही गयी है। अहंकारी व्यक्ति इस महिमा का अधिकारी नहीं होता। उसका चित्रण करते हुए गीता कहती है –

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इमदस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

– ये अहकारी ऐसा सोचते हैं कि मैंने आज यह पाया, अब इस मनोरथ को पूरा करूँगा, अभी मेरे पास इतना धन है, भविष्य में और भी इतना हो जाएगा। उस शत्रु को मैंने मारकर मजा चखा दिया, अब दूसरे शत्रुओं को भी देख लूँगा। मुझे छोड़ इस धरती पर और दूसरा कौन ईश्वर है? मैं सारे ऐश्वर्यों का भोग करने के लिए पैदा हुआ हूँ, मैं सब सिद्धियों का स्वामी हूँ, मैं बलवान् और सुखी हूँ। मैं समृद्ध और जनबल से युक्त हूँ। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा, मेरे समान दूसरा भला और कौन है – इस प्रकार के अज्ञान से ये अहकारी लोग मोहित रहते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि अहकार व्यक्ति को सत्य से दूर ले जाता है, जबकि आत्मविश्वास के द्वारा वह सत्य के अधिकाधिक समीप पहुँचता जाता है। स्वामी विवेकानन्द इस आत्मविश्वास को महानता का रहस्य मानते हैं और कहते हैं – ''विश्वास, विश्वास, अपने आप में विश्वास करो। यदि तुम पुराण के तैंतीस करोड़ देवताओं और विदेशियों द्वारा बतलाये हुए सभी देवताओं में भी विश्वास करते हो, पर यदि अपने आप में विश्वास नहीं करते, तो तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती।'' एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं – ''अपने आप में विश्वास रखने का आदर्श ही हमारा सबसे बड़ा सहायक है। सभी क्षेत्रों में यदि अपने आप में विश्वास करना हमें सिखाया जाता और उसका अभ्यास कराया जाता, तो मुझे निश्चय है कि हमारी बुराइयों तथा दुःखों का बहुत बड़ा भाग आज तक मिट गया होता।''

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि विश्व का इतिहास उन इने-गिने लोगों ने बनाया है, जिनका अपने आप में, अपनी क्षमता में दृढ़ विश्वास था। वे यह मानते थे कि वे महान् होने के लिए ही पैदा हुए हैं और इसीलिए महान् बने। ❑ ❑ ❑

गीता की शक्ति और मोहकता (३)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग है – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यो मे व्यस्त जगत् के विचारशील लोगों का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गये एक उद्‌बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानो का हिन्दी अनुवाद हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे है। – सं.)

आदि शंकराचार्य कृत गीताभाष्य की भूमिका

जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, आदि शंकराचार्य ने ही सर्वप्रथम गीता के महत्त्व को समझा और इस पर एक भाष्य लिखकर लोगों में इसका प्रचार किया। ७८८ से ८२० ई. तक उनका जीवनकाल था। वे एक असाधारण सर्जनात्मक व्यक्तित्व से सम्पन्न थे और उनमें भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा अध्यात्म का सम्पूर्ण भाव मानो जीवन्त हो उठा था। उन्होंने पैदल ही भारत के दक्षिण से उत्तर तथा पश्चिम से पूरब की यात्रा की; वेदान्त पर अनेक विद्वत्तापूर्ण तथा लोकप्रिय ग्रन्थ लिखे और भारत की आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक एकता पर वे एक स्थायी छाप छोड़ गये। और यह सब उन्होंने अपने अल्पायु जीवन के ३२ वर्षों के दौरान ही किया।

हम उनकी गीताभाष्य की भूमिका के दो पृष्ठों में से प्रमुख अंशों का अध्ययन करेंगे। इसमें मानवीय विकास का एक सर्वांगीण दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। मैं चाहता हूँ कि गीता से प्रेम रखनेवाला प्रत्येक पाठक इन दो पृष्ठों की भूमिका को पढ़े, इसका महत्त्व समझे और इसकी सार्वभौमिकता से प्रभावित हो। गीता जीवन को लौकिक तथा आध्यात्मिक – इन दो भागों में विभक्त न करके, मानव-जीवन तथा मानव की नियति के विषय में एक समन्वित दृष्टिकोण अपनाती है। इसीलिए आज हम लोग इस भूमिका के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंशों का अध्ययन करेंगे।

अपनी भूमिका में शंकराचार्य ने सर्वप्रथम परमात्मा के स्वरूप के विषय में एक पौराणिक श्लोक उद्धृत किया है, जिसकी प्रतिध्वनि अंशतः आधुनिक ब्रह्माण्ड-विज्ञान में पायी जाती है। श्लोक इस प्रकार है –

नारायणः परो अव्यक्तात् अण्डमव्यक्तसम्भवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ।।

– "नारायण अव्यक्त (प्रकृति) से परे हैं, अव्यक्त प्रकृति से यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है; यह सात द्वीपोंवाली पृथ्वी सहित सभी लोक इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत ही हैं।"

इस श्लोक के द्वारा व्यक्त हुआ भारत का ब्रह्माण्ड-विज्ञान, कई दृष्टियों से आधुनिक पाश्चात्य ब्रह्माण्ड-विज्ञान से न केवल साम्य रखता है, बल्कि उससे कही अधिक परिपूर्ण है; भेद इतना ही है कि भारत ब्रह्माण्ड के इस पवित्र स्रोत को आध्यात्मिक कहता है, जबकि आधुनिक पाश्चात्य ब्रह्माण्ड-विज्ञान इसे भौतिक मानता है; वैसे इंग्लैंड के फ्रेड हॉयल जैसे कुछ पाश्चात्य खगोलशास्त्री इसे आध्यात्मिक मे रूपान्तरित करने के प्रयास मे लगे हैं। चालीस वर्षों से भी पहले फ्रेड हॉयल ने खगोल-विज्ञान पर एक पुस्तक लिखी थी, जो पूरी तौर से भौतिकवादी थी। परन्तु अब उन्होंने एक नयी पुस्तक लिखी है, जिसके नाम से ही उनका आध्यात्मिक रुझान प्रकट होता है – The Intelligent Universe (बुद्धियुक्त ब्रह्माण्ड)। ब्रह्माण्ड बुद्धियुक्त है; यह वही चीज है, जिसे वेदान्त अनन्त, अद्वय चैतन्य कहता है।

इस प्रकार यहाँ प्रथम श्लोक में **नारायण** हैं, जिनके समतुल्य पाश्चात्य खगोल-भौतिकी में कोई शब्द नहीं है। परन्तु **अव्यक्त** (अविभक्त) नामक अगले स्तर के समतुल्य पाश्चात्य ब्रह्माण्ड-विज्ञान में हमें 'एकत्व की अवस्था' (the state of singularity) प्राप्त होती है। अव्यक्त प्रकृति के भी अतीत परम दैवी व्यक्तित्व के रूप में नारायण की स्तुति की गयी है। वेदान्त के अनुसार प्रकृति के दो पहलू हैं – विभक्त और अविभक्त। इसका विभक्त पहलू वह है, जिसे हम व्यक्त ब्रह्माण्ड के रूप में देखते है और उसके पीछे **अव्यक्त** या प्रकृति की अविभक्त अवस्था, पाश्चात्य खगोल-भौतिकी के अनुसार बिग-बैग (महा-विस्फोट) के ठीक पहले की अवस्था विद्यमान है। अव्यक्त से व्यक्त अथवा श्लोक में कथित **ब्रह्माण्ड** का आविर्भाव होता है, जिसमें सातों महाद्वीपों से युक्त पृथ्वी सहित करोड़ों विश्व विद्यमान हैं। परम आदि तत्त्व रूपी परमात्मा को वेदान्त में **अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक** कहा गया है। सेमेटिक या सामी विचारधारा की देश-काल के विषय में अत्यन्त सीमित धारणा के समान नहीं, बल्कि आधुनिक पाश्चात्य खगोल-भौतिकी के समान ही भारत में अनन्त काल तथा देश (स्थान) की धारणा प्रचलित थी। वेदान्त का कहना है कि पूरा ब्रह्माण्ड ब्रह्म से ही आया है, ब्रह्म मे ही स्थित है तथा युगचक्र के अन्त में ब्रह्म मे ही

लीन हो जाता है। ब्रह्म से यह एक विशेष क्रम से प्रकट हुआ है – अविभक्त अवस्था से विभक्त अवस्था में; और यह विभाजन एक विशेष विकासात्मक क्रम में हुआ है; ब्रह्माण्डीय विकास, जैविक विकास, मानवीय विकास और मानव का भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास। वेदान्तिक ब्रह्माण्ड-विज्ञान में इसी भाषा का उपयोग हुआ है। जैसा कि महाभारत के भीष्मपर्व का **विष्णु-सहस्रनाम** (श्लोक ११) कहता है –

यत: सर्वाणि भूतानि भवन्ति आदि युगागमे
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये -

– "युगारम्भ मे जिनसे समस्त प्राणी निकल आते हैं और युगान्त के समय जिनमें सभी लीन हो जाते हैं" – वे ही नारायण है।

दिव्य नारायण अनन्त शुद्ध चैतन्य अद्वय निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप है।

मानव-जीवन के दो मार्ग – प्रवृत्ति और निवृत्ति

इतना कहने के बाद मानव-समाज को सन्तुलित करने की दृष्टि से शंकराचार्य मानवीय विकास के स्तर पर एक सर्वागीण जीवन-दर्शन देते हैं –

स भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत्, तस्य च स्थितिं चिकीर्षु: मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम् – "भगवान ने (अपने भीतर से) इस संसार की सृष्टि करने के बाद, इसकी स्थिरता की इच्छा से सर्वप्रथम मरीचि आदि प्रजापतियों को पैदा किया और उनसे वेदों में कथित प्रवृत्ति या कर्मकाण्ड का धर्म ग्रहण कराया।"

तत: अन्यान् च सनक-सनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्ति-लक्षणं धर्मं ज्ञान-वैराग्य-लक्षणं ग्राहयामास – "और उनसे भिन्न सनक, सनन्दन आदि को उत्पन्न करके उन्हें ज्ञान-वैराग्य **रूप** निवृत्ति या अन्तर्मुखी ध्यान का धर्म ग्रहण कराया।

सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार – इन्हें चार 'कुमार' कहा जाता है। ये परमात्मा की चिर सन्तानें हैं, जिन्हे भारतीय साहित्य में सांसारिक मलिनता से रहित परमेश्वर की सन्तानों के रूप में सम्मानित किया जाता है।

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्म: - प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्ति-लक्षणश्च, जगत: स्थितिकारणम्। प्राणिनाम् साक्षात्-अभ्युदय-नि:श्रेयस-हेतु: – "वेदों में बताया गया धर्म दो प्रकार का है – **प्रवृत्ति** या बाह्य क्रिया और **निवृत्ति** अर्थात् आन्तरिक ध्यान, जिसका उद्देश्य जगत् की स्थिरता है और जो समस्त प्राणियो के **अभ्युदय** या सामाजिक-आर्थिक कल्याण तथा **नि:श्रेयस** या आध्यात्मिक मुक्ति का कारण है।"

मनुष्य के कल्याण के लिए कर्म तथा ध्यान – दोनों ही आवश्यक हैं। यदि इनमें से केवल एक ही हो, तो व्यक्तिगत या सामाजिक स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। प्राचीन भारतीय ऋषियों की इस अद्भुत अन्तर्दृष्टि, इस सर्वागीण ज्ञान को देखिए। प्रवृत्ति के द्वारा हम अपनी अर्थ-व्यवस्था तथा राजनीतिक-प्रणाली को सुधारकर एक कल्याणकारी समाज की स्थापना कर सकते हैं। और निवृत्ति के द्वारा हम वह प्राप्त करते है, जिसे आजकल मूल्य-केन्द्रित जीवन कहते हैं, जो मानवता के आन्तरिक आध्यात्मिक आयाम मे उत्पन्न होता है। अन्यथा प्रवृत्ति के द्वारा आपको बहुत-सा धन, सत्ता और अन्य सब कुछ मिल सकता है, परन्तु केवल प्रवृत्ति मे युक्त और निवृत्ति से रहित समाज कुछ समय तो ठीक चलेगा, मगर दीर्घ अवधि में यह संकटग्रस्त हो जायेगा। आज की पूरी पाश्चात्य सभ्यता इसलिए संकट में है कि इसमे निवृत्ति का नकार कर केवल प्रवृत्ति पर ही बल दिया जाता है – केवल काम, काम और काम; अधिक-से-अधिक पैसे कमाओ, पर भीतर से दरिद्र ही बने रहो, और इस प्रकार अन्तत: मनुष्य स्नायविक रूप से टूट जाता है। आधुनिक युग में इस प्रकार बहुत-से लोग कष्ट उठा रहे हैं। मैं प्राय: ही जर्मन दार्शनिक शापेनहावर की पुस्तक The World as Will and Idea से एक उद्धरण दिया करता हूँ। ध्यान रहे कि यह बात उन्होंने १३० वर्ष पूर्व कही थी और तब उन्होंने जो कुछ कहा, वह आज भी पूरी तौर से सत्य है। उन्होंने कहा था, "जब लोगो को सुरक्षा तथा कल्याण की प्राप्ति हो जाती है, तब सभी समस्याओं को सुलझा लेने के बाद, वे स्वयं ही अपने लिए एक समस्या बन जाते हैं।"

आधुनिक युग के नर-नारियों के लिए यह बात कितनी अक्षरश: सत्य है! यहाँ तक कि हमारे अपने देश मे ही धन, सत्ता तथा सुख के पीछे अन्धाधुन्ध दोड़ लगी हुई है; और इसके फलस्वरूप आदर्शों मे व्यापक ह्रास और हिंसा में वृद्धि हो रही है। इससे एक स्वस्थ मानव समाज को सुरक्षित नही रखा जा सकता। **निवृत्ति** रूपी दूसरे तत्त्व का अभाव है। इसीलिए शंकर कहते हैं – **प्राणिनाम् साक्षात्-अभ्युदय-नि:श्रेयस-हेतु: –** एक ऐसा जीवन-दर्शन जो कर्म तथा ध्यान के द्वारा सामाजिक हित तथा आध्यात्मिक मुक्ति का सामंजस्य कर सके। इस सन्दर्भ मे एक अन्य बात का भी उल्लेख किया जा सकता है। **अभि** के बाद **उदय** का अर्थ है कल्याण; **अभि** का अर्थ है एक साथ, अकेले नही; इस विशेष शब्द से जुड़ा हुआ यह एक महत्त्वपूर्ण उपसर्ग है; इसका तात्पर्य यह है कि सम्मिलित उद्यम के बिना कोई भी सामाजिक-आर्थिक विकास सम्भव नही है; एक स्वस्थ समाज का गठन करने के लिए आपसी तालमेल के साथ सामुदायिक भाव की जरूरत होती है। यदि हर व्यक्ति दूसरो से लड़ता रहेगा, तो समृद्धि नही आ सकती। सामाजिक शान्ति परम आवश्यक है, सहकारिता आवश्यक है, सामूहिक कार्य आवश्यक है; इस एक **अभि**

शब्द के द्वारा इन सारी बातों पर बल दिया गया है। पिछली कुछ शताब्दियों के दौरान भारतवर्ष के समाज में हमने इस एक भाव को ठीक से आत्मसात् नहीं किया है। आज हमें यह पाठ सीखना होगा; हमें सामुदायिक भाव का विकास करना होगा। यदि हमारी जनता एक साथ मिलकर काम करना सीख जाय, तो हमारे सभी गाँव स्वर्ग बन जायेंगे। अब तक हमने यह नही सीखा है और इसीलिए हमारी सहकारी समितियाँ अक्सर बैठ जाती है। यदि सहकारी-भाव ही न हो, तो भला सहकारी आन्दोलन कैसे सफल हो सकता है?

इन मार्गों के दो फल – अभ्युदय और निःश्रेयस

इस प्रकार **उदय** के साथ जुड़ा हुआ **अभि** शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यह एकजुटता के भाव पर बल देता है। हमें सीखना होगा कि हम अपने गाँव के पड़ोसियों के साथ कैसा व्यवहार करें; कैसे हम उनके साथ शान्तिपूर्वक रहकर, एक साथ मिलकर अपने गाँवों में सुधार लाएँ; फिर सफाई में सुधार, अच्छी सड़के, बेहतर आवास, और सभी लोगों के लिए समुचित भोजन तथा शिक्षा – यह सब कुछ हो सकता है, बशर्ते कि हम मिल-जुलकर काम करें। हमारी पंचायतों तथा नगर-पालिकाओं को स्वस्थ बनाने का यही उपाय है। इसी मार्ग पर चलकर हम एक नये स्वस्थ भारत का सपना सजीव कर सकेंगे। अतः **अभ्युदय** का यह दर्शन महत्त्वपूर्ण है; पाश्चात्य देशों में इसे काफी हद तक पा लिया गया है; और हम उनसे सीख सकते हैं कि अपने देश में इसे कैसे रूपायित करें। हमें अपने जीवन तथा कार्य में तीन मूल्य अपनाने होंगे – कठोर परिश्रम, कर्मकुशलता और सहकारिता। शंकराचार्य कहते हैं कि **प्रवृत्ति** तथा **निवृत्ति** रूप द्विविध आदर्शो वाला यह वैदिक दर्शन, नर-नारियों को एक ओर तो **अभ्युदय** और दूसरी ओर **निःश्रेयस** दिलाता है। आज हम पूर्ण कल्याणकारी राज्य के विषय में यही तो कहते हैं; इसमें कुछ भी अव्यावहारिक नहीं है; आज अनेक समाज **अभ्युदय** को प्राप्त कर चुके हैं; और हम भी भारत में इसकी उपलब्धि कर सकते हैं, बशर्ते हम चारित्रिक कुशलता का विकास कर लें। जैसा कि ईसा कहते हैं, "यदि तुम मुझसे प्रेम नही कर सकते जिसे तुम देख रहे हो, तो फिर तुम ईश्वर से कैसे प्रेम करोगे जिन्हें तुमने देखा ही नहीं?" हमारी जनता को यह एक महान् पाठ सीखना होगा। हम लोग एक दूर स्थित ईश्वर या किसी मन्दिर की देवमूर्ति के साथ अपने को जोड़ने में अत्यधिक रुचि लेते रहे है और अपने पड़ोस में रहनेवाले व्यक्ति के साथ नहीं; उसके साथ तो हम अक्सर झगड़ते रहे हैं। यह बदलना चाहिए और यह बदलाव ही **अभ्युदय** लाता है। इसके बाद **निःश्रेयस** आता है। सम्भव है कि आप जीवन की सारी सुविधाओं – मकान, शिक्षा, स्वच्छ परिवेश, आर्थिक दृढ़ता और तरह तरह के सुख-साधनों की प्राप्ति कर लें। तथापि आपको मनःशान्ति नहीं मिलेगी; जीवन तनावों से परिपूर्ण होगा। ऐसा क्यों है? इसलिए कि आपने एक चीज खो दिया है; अपने अन्तर में निहित दिव्यता के स्फुलिंग रूप अपनी सच्ची आत्मा को नहीं जाना है; आपके आकर्षण का केन्द्र सर्वदा बाहर ही रहता है। आप अपनी सच्ची महत्ता को खोकर वस्तुओं के दास हो गये हैं। इससे आन्तरिक तनाव उत्पन्न होते हैं, समाज में अपराध तथा दुराचार बढ़ते हैं और क्रमशः उसमें अवनति आ जाती है।

इस विनाश से बचा जा सकता है, बशर्ते कि हम निवृत्ति या ध्यान रूपी जीवन के उस दूसरे मूल्य को जोड़ लें, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने अन्तर में चिर विद्यमान आत्मा को स्पर्श कर सकता है। यह कोई मतवाद या मात्र विश्वास नही, बल्कि उपनिषदों के ऋषियों द्वारा अध्यात्म-विद्या की सहायता से अनुभूत सत्य है; और यह सत्य केवल विश्वास के लिए नहीं, बल्कि सबके द्वारा अनुभूति किये जाने के योग्य है। आप जितना ही अपने अन्दर जायेगे, उतना ही आपमें दूसरे लोगों के भीतर प्रवेश करने तथा उनके साथ सुखद सम्बन्ध जोड़ने की क्षमता आती जायेगी। अपनी आन्तरिक प्रकृति के भीतर प्रवेश करने पर आप अपने आनुवंशिक-तंत्र द्वारा नियंत्रित क्षुद्र अहंकार के परे चले जाते है और अपनी बृहत्तर आत्मा के सम्पर्क में आते हैं, जो सबकी आत्मा है।

इस प्रकार, **प्रवृत्ति** एवं **निवृत्ति** का, **अभ्युदय** व **निःश्रेयस** का यह समन्वय ही गीता की महान् शिक्षा है। इसमें सर्वांगीण मानवीय विकास का एक दर्शन निहित है। इस महान् ग्रन्थ की यही विशेषता है। इसीलिए शंकराचार्य ने कहा – **प्राणिनां साक्षात्-अभ्युदय-निःश्रेयस-हेतुः**। उन्होंने यह नही कहा कि यह केवल हिन्दुओं के लिए है या मात्र भारतवासियों के लिए है, वरन् कहा **प्राणिनाम्** – सभी मनुष्यों के लिए। यही इसकी सार्वभौमिकता है। **अभ्युदय** के साथ **निःश्रेयस** को जोड़कर गीता मनुष्यों को केवल मशीनों में परिणत होने से बचाती है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में ऐसी ही प्रवृत्ति है। बर्ट्रेंड रसेल ने अपनी पुस्तक Impact of Science on Society (विज्ञान का समाज पर प्रभाव) में लिखा है कि यदि नर-नारियों का यह मशीनीकरण अधिक दूर तक गया, तो एक ऐसा समय भी आयेगा, जब एक कर्मी हाथ में फूल लिए कारखाने में जायेगा और उसे एक विशाल मशीन के सामने रखकर प्रार्थना करेगा, "हे मशीन, मुझे तुम अपने भीतर एक अच्छा नट-बोल्ट बना लो।" इसी को मनुष्य का मशीनीकरण कहते हैं। शंकराचार्य द्वारा सुझाये गये **निःश्रेयस** नामक दूसरे मूल्य पर यदि ठीक ठीक ध्यान दिया गया, तो आध्यात्मिक मूल्य प्रकट होंगे और तब ऐसी समस्या कभी पैदा ही नहीं होगी। **अभ्युदय** तथा **निःश्रेयस** – दोनों एक साथ मिलकर इस संसार को सन्तुलित

बनाये रखने के साधन हैं। एक पर जोर देकर दूसरे की अवहेलना करने से यह नौका के समान एक या दूसरी तरफ झुक जायेगा। पिछली कुछ शताब्दियों के दौरान भारत **नि:श्रेयस्** की ओर झुका रहा, और वह भी ठीक ढंग से नहीं, और **अभ्युदय** की अवहेलना करके निष्क्रियता का कष्ट भोगता रहा, जिससे वह आज के युग में स्वामी विवेकानन्द जैसे आचार्यों द्वारा उबारा जा रहा है; दूसरी ओर आज का पाश्चात्य जगत् **अभ्युदय** की ओर झुक गया, जिससे मुक्त होने के लिए वह आकुल हो रहा है। पाश्चात्य जगत् ने ध्यान-विषयक ईसाई विचारों के माध्यम से **निवृत्ति** का अनुभव किया है, जिसने महान् सन्त-महात्माओं को जन्म दिया, परन्तु आधुनिक युग में वह अप्रचलित हो गया है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता अब तक पूरी तौर से **प्रवृत्ति** पर आधारित रही है; परन्तु आज हमें पश्चिम में जीवन के प्रति इस एकांगी दृष्टिकोण पर एक प्रतिक्रिया दिखायी देती है; यह एक बड़ी विस्मयजनक बात है, क्योंकि यह कुछ उन चिन्तकों, मनो-वैज्ञानिकों, अणु-वैज्ञानिकों द्वारा तब प्रकट की जाती हैं, जब वे देखते हैं कि यह एकांगी दृष्टिकोण एकांगी लोगों और एकांगी सभ्यता को ही उत्पन्न कर रहा है। अमेरिका में पिछले २०० वर्षों के सांस्कृतिक प्रयोगो के बाद यह भाव प्रकट किया जाने लगा है कि अब हमें किसी अन्य चीज की जरूरत है। कुछ विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि **निवृत्ति** पर भी बल दिया जाना चाहिए। यह अमेरिकी विचारों में कैसे व्यक्त हुआ है?

ज्ञान की चेतन, अवचेतन तथा अचेतन अवस्थाओं के अतिरिक्त वेदान्त अतिचेतन (समाधि) अवस्था को भी स्वीकार करता है। मनुष्य की सृजनशीलता के सन्दर्भ में **निवृत्ति** इस अतिचेतन अवस्था से जुड़ी हुई है। मानवीय सृजनशीलता के सन्दर्भ में 'ज्ञान' पर अभी हाल ही के अध्ययनों में पश्चिम के कुछ मनोवैज्ञानिकों द्वारा इसी ओर इंगित किया गया है।

१९७१-७२ में जब मैं अपनी आठ महीनों की अमेरिका में व्याख्यान-यात्रा के दौरान वाशिंग्टन में था, तो एक विशाल पुस्तक मेरे हाथ में आयी – American Hand-book of Psychiatry, Vol. III; जो अनेक लेखकों द्वारा लिखी गयी थी। कभी अमेरिकी युवकों ने अपनी सृजनशीलता बढ़ाने के उद्देश्य से तरह तरह के नशीले पदार्थों का सहारा लिया था। यह पुस्तक उसका विरोध करते हुए उसके लिए एक स्वस्थ तरीका सुझाती है। Creativity and Its Cultivation (सृजनशीलता एवं उसका संवर्धन) विषय पर अपने अध्ययन में सिल्वानो अरायटी कहते हैं (पृ. ७३७-४०) –

"नशीले तरीकों का सहारा लेने के स्थान पर हमें जिन उपायों के विषय में सोचना तथा सम्भवत: अनुमोदन करना चाहिए, वे हैं – विशेष दृष्टिकोण, आदतें तथा पारिवेशिक अवस्थाएँ। ध्यान देने योग्य पहली अवस्था है – एकान्तता। एकान्तता को आंशिक ऐन्द्रिक संयम कहा जा सकता है। ... तब उसमें अपने अन्तरात्मा की आवाज सुनने की और अपने आन्तरिक संसाधनों तथा प्राथमिक प्रक्रियाओं की कुछ अभिव्यक्तियों के सम्पर्क में आने की अधिक सम्भावना होती है। (आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान में पूर्व-चेतन अवस्था से प्राप्त बोध या युक्तिरहित [non-logical] प्रकार के बोध को प्राथमिक ज्ञान कहा जाता है; और चेतन अवस्था से प्राप्त बोध तथा युक्तिपूर्ण बोध को गौण ज्ञान माना जाता है।) दुर्भाग्यवश तरुणों को शिक्षित करने के आधुनिक तरीकों में एकान्तता को महत्त्व नहीं दिया गया है; बल्कि इसके विपरीत उसमें मिलनसारिता तथा लोकप्रियता को उच्च स्थान दिया गया है।

"एकान्तता को दु:खद एकाकीपन, अन्यमनस्कता या निरन्तर अकेले रहना नहीं समझ लेना चाहिए। ...

"एक दूसरा उपाय, जो सृजनशीलता को बढ़ावा देनेवाला प्रतीत होता है तथा अमेरिकी सभ्यता के वर्तमान भाव के विपरीत है और वह है निष्क्रियता ...।

"तीसरी अवस्था है दिवास्वप्न। ... दिवास्वप्न के जीवन में ही मनुष्य अपने मन को सामान्य पथ को छोड़कर भिन्न पथ अपनाने और अयौक्तिक जगत् में छोटी-मोटी यात्राएँ करने का मौका देता है।

"सृजनशील व्यक्ति के लिए एक अन्य आवश्यकता को स्वीकार करना और भी कठिन है, वह है भोलापन। यह शब्द यहाँ किसी बात को सामयिक रूप से या जब तक गलत सिद्ध न हो, तब तक यह बात स्वीकार करने की तत्परता के अर्थ में लिया गया है कि हमारे बाहर तथा भीतर की हर चीज के पीछे एक विशेष व्यवस्थित क्रम है। नयी चीजों की अपेक्षा कहीं अधिक इन अन्तर्निहित व्यवस्थाओं की खोज को ही प्राय: सृजनशीलता कहते हैं।

"सावधानी तथा संयम इसकी अन्य आवश्यकताएँ हैं। किसी भी उत्पादनशीलता के क्षेत्र में यद्यपि ये सामान्य पूर्व-शर्तें हैं, तथापि सृजनशीलता के क्षेत्र में इन्हें एक विशेष दर्जा प्राप्त हो जाता है।"

ये सिल्वानो अरायटी के कुछ नुस्खे हैं और इनमें से एक परम क्रान्तिकारी है और वह यह कि आपको 'भोलेपन' की क्षमता विकसित करनी होगी; लोग जो कुछ कहते हैं उस पर अविश्वास नहीं, बल्कि विश्वास करना। लेखकों का कहना है कि आज लोगों में सब कुछ पर अविश्वास करने की प्रवृत्ति है और यह काफी प्रबल हो चुकी है। जब तक कोई चीज गलत न सिद्ध हो जाय, तब तक विश्वास करने की क्षमता आपमे होनी चाहिए। छोटे बच्चे सृजनशील होते हैं, क्योंकि वे विश्वास करते हैं, परन्तु बड़े होने पर लोग विश्वास करने की

शक्ति खो बैठते हैं। सामान्यत: एकांगी विकास के कारण, जब आपकी विश्वास करने की क्षमता चली जाती है, तो क्रमश: आपमें एक तरह का छिद्रान्वेषी दृष्टिकोण विकसित हो जाता है। हर चीज पर अविश्वास करना आज पूरे विश्व में अनेक मानव-मनों का प्रमुख रोग हो गया है। यह दोषदर्शिता एक चरम भाव है, जिसे भोलेपन नामक दूसरे चरम भाव से दूर करना होगा। तभी एक सन्तुलित दृष्टिकोण विकसित होगा, ऐसा उस ग्रन्थ का कहना है।

छिद्रान्वेषी वृत्ति के द्वारा सारी सृजनशीलता नष्ट हो जाती है। सम्भवत: ब्रिटिश कवि बायरन ने कहा था कि सम्पूर्ण इंग्लैंड में केवल दो को छोड़ अन्य कोई भी नारी पतिव्रता नहीं है और उनमें से एक तो हैं महारानी विक्टोरिया और दूसरी उनकी अपनी माँ। इसके बाद वे कहते हैं कि उन्होंने महारानी विक्टोरिया का नाम इसलिए लिया कि ऐसा न करने पर उन्हें सजा हो जायेगी और अपनी माँ को इसलिए लिया कि ऐसा करने पर वे स्वयं भी नाजायज हो जाते।

ऐसे विचार एक अत्यन्त गहराई तक पैठी नकारात्मक मानसिकता से आते हैं। वर्तमान भारत के अनेक बुद्धिजीवियों में हमें ऐसा ही छिद्रान्वेषी दृष्टिकोण दीख पड़ता है। यही चीज हमें अपने कुछ पत्रकारों तथा संचार-माध्यमों से जुड़े लोगों में भी देखने को मिलती है। सत्य में, मनुष्य में, उनकी नियति में उस मूलभूत विश्वास का क्षय हो गया है। जब अध्यात्म-विज्ञान आपको चुपचाप बैठकर ध्यान करने को कहता है, तब यह आपको सर्वदा चल रहे लोगों के साथ मेलजोल को छोड़कर एकाकी होने को कहता है। क्योंकि अधिक मेलजोल से स्नायु भी आहत हो जाते हैं। बीच बीच में एकान्त का आनन्द लेना भी सीखना चाहिए। यह सब कुछ **निवृत्ति** के प्राचीन उपदेश के अन्तर्गत आ जाता है। **प्रवृत्ति** को सिखाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि **प्रवृत्ति** की ओर हमारा स्वाभाविक रुझान है। एक बच्चा उछलता-कूदता है, इधर-उधर दौड़ता है, चीजों को खींचता या धक्के देता है; अत: **प्रवृत्ति** सहज-स्वाभाविक है। परन्तु **निवृत्ति** के लिए प्रशिक्षण की जरूरत पड़ती है। मानवता आज उसी को पाना चाहती है। यह क्या ही गहन मनोवैज्ञानिक तत्त्व को उजागर करता है!

पाश्चात्य मानस में **निवृत्ति** रूपी इस वरदान का सन्देश धीरे धीरे प्रवेश कर रहा है और यह न केवल भारत, अपितु चीन तथा जापान से जानेवाले प्रभावों और उनके एकांगी परिवेश पर विवेकपूर्वक प्रतिक्रिया करनेवाले उनके अपने लेखकों, विचारकों तथा मनोवैज्ञानिकों के माध्यम से भी हो रहा है। प्रवृत्ति के द्वारा आप सामाजिक कल्याण – अच्छे मकान, बहुत-सा खाना-पीना, सुन्दर पोशाक, शिक्षा, रोशनी से भरे रास्ते और अच्छी सड़कें प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु इसका आधिक्य आज उपभोक्तावाद कहलाता है। शान्त, सामंजस्यपूर्ण तथा सन्तुष्ट होने के लिए और मनुष्यों से प्रेम कर पाने की क्षमता का विकास करने के लिए और उनके साथ शान्तिपूर्वक निवास करने के लिए, हमें **निवृत्ति** रूपी वरदान की आवश्यकता है, जो हम सबमे दिव्य स्फुलिग के रूप में निहित आध्यात्मिक शक्ति को अभिव्यक्त करने में सहायता करता है। और यह **निवृत्ति** हमारी सारी **प्रवृत्ति** को अनुप्राणित भी कर सकती है। गीता में यही बताया गया है – **निवृत्ति** से अनुप्राणित **प्रवृत्ति**। भारत में हमारे पास **प्रवृत्ति** का आधिक्य है। अभी हाल ही में हमारे यहाँ चुनाव हुए हैं, और हमें उसमें काफी **प्रवृत्ति** देखने को मिली – हिंसक विचारों से युक्त लोग, हिंसक क्रियाएँ, कोई बैलट बाक्स ही उठाकर ले जा रहा है और ऐसी ही और भी बहुत-सी बातें। हम लोग ऐसा क्यों करते हैं? क्योंकि हमारे विचारों को सन्तुलित तथा शुद्ध करने के लिए **निवृत्ति** की काफी कमी है। हमे सोचना और स्वयं से पूछना चाहिए, "हम ऐसा क्यो करते हैं? क्या यह हमारे लोकतंत्र के लिए अच्छा है?" हमें अपनी जनता को अपनी इच्छानुसार मत देने की स्वाधीनता देनी चाहिए; कोई भी राजनैतिक दल इस पर नियंत्रण करने या इसमे हस्तक्षेप करने का प्रयास क्यो करे? हमारी राजनीति में ये सारी बाधाएँ हैं और इसके साथ ही काफी भ्रष्टाचार भी है। परन्तु **निवृत्ति** का एक स्पर्श यह सब कुछ बदल सकता है।

गीता हमें ऐसे जीवन के बारे में बताती है, जिसमें उत्तम कर्मकुशलता, महान् उत्पादकता और बेहतर अन्तर्मानवीय सम्बन्ध होंगे। मानव-जीवन तथा उसकी नियति विषयक गीता के दृष्टिकोण की सर्वागीणता पर ध्यान दीजिए। शंकराचार्य गीता की इस सर्वागीण आध्यात्मिकता को हमें सार रूप में देते हैं। इसके अनुसार हर व्यक्ति जीवन के **प्रवृत्ति** क्षेत्र में रहते समय भी आध्यात्मिक है; व्यक्ति कभी आध्यात्मिकता के परे नहीं हो सकता। यह एक अद्भुत विचार है। आध्यात्मिकता पूरे जीवन को व्याप्त किये हुए है; आप कभी इसके बाहर नही जा सकते। गीता और वेदान्त का यही दृष्टिकोण है। इसीलिए मैं उनके भाष्य का यह दूसरा वाक्य विशेष रूप से पसन्द करता हूँ, जो इस प्रकार आरम्भ होता है – **द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः**। पिछली कई शताब्दियों से हम इसका मर्म नही समझ सके। हमने अपने धर्म तथा दर्शन में इतनी मिलावट की कि पिछली शताब्दी तक हमारा धर्म उस पुराने बाजार के दूध के समान हो गया – ९०% पानी और १०% दूध।

हमें इस गहन एकात्मवादी दर्शन के आधार पर अपना पूरा राष्ट्र गढ़ना है। इसीलिए आधुनिक युग में वेदान्त के इस सर्वागीण दर्शन तथा आध्यात्मिकता की ध्वजा को अत्यन्त ऊँचा उठाने के लिए स्वामी विवेकानन्द अब भी याद किये जाते हैं। यह युक्तिपूर्ण है, व्यावहारिक है, सार्वभौमिक है और

मानवतावाद से अनुप्राणित है। इस ध्वजा को एक बार फिर उठाना होगा। १८९७ ई. में उन्होंने लाहौर में 'वेदान्त' पर अपने व्याख्यान में राष्ट्र को प्रबोधित करते हुए कहा (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ३२०-२१) –

"अत: हे लाहौर के युवको, फिर अद्वैत की वही प्रबल पताका फहराओ, क्योंकि और किसी आधार पर तुम्हारे भीतर वैसा अपूर्व प्रेम नहीं पैदा हो सकता। जब तक तुम लोग उसी एक भगवान को सर्वत्र एक ही भाव से अवस्थित नहीं देखते, तब तक तुम्हारे भीतर वह प्रेम पैदा नही हो सकता – उसी प्रेम की पताका फहराओ। उठो, जागो, जब तक लक्ष्य तक नहीं पहुँचते, तब तक मत रुको। उठो, एक बार और उठो, क्योंकि त्याग के बिना कुछ हो नही सकता। यदि तुम किसी की सहायता करना चाहते हो, तो तुम्हें अपना अहंभाव छोड़ना होगा। ... यह देश डूब रहा है। लाखों प्राणियों का शाप हमारे सिर पर है, उन अगणित लाखों मनुष्यों का, जिनके सदा ही अजस्र जलधारवाली नदी के समीप रहने पर भी जिन्हें तृष्णा के समय पीने के लिए हमने गड्ढे का पानी दिया, जिनके सामने भोजन के भण्डार रहते हुए भी जिन्हें हमने भूखों मार डाला, जिन्हें हमने अद्वैतवाद का तत्त्व सुनाया और जिनसे हमने तीव्र घृणा की। ... अपने चरित्र का यह दाग मिटा दो। उठो, जागो और पूरी तौर से निष्कपट हो जाओ। भारत में घोर कपट समा गया है। चाहिए चरित्र, चाहिए ऐसी दृढ़ता और चरित्र-बल जिससे मनुष्य आजीवन दृढ़व्रती रह सके।"

आज हमें व्यावहारिक वेदान्त रूपी श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं में इस युग के लिए प्रबल प्रासंगिकता के साथ वेदान्त की वह सिह-गर्जना सुनाई देती है।

प्राणिनां साक्षात्-अभ्युदय-नि:श्रेयस-हेतु: – कहकर शंकराचार्य इस बात पर बल देते हैं कि सनातन धर्म पशुओं सहित समस्त प्राणियो के सुख तथा हित के लिए कार्य करता है; न कि कुछ उन सम्प्रदायो या राजनीतिक प्रणालियों के समान, जो केवल अपने ही अनुयाइयों की देखभाल करते हैं।

इसके बाद शंकराचार्य कहते हैं – **य: स धर्म: ब्राह्मणाद्यै: वर्णिभि: आश्रमिभि: च श्रेयोऽर्थिभि: अनुष्ठीयमान: दीर्घेण कालेन** – ये दो प्रकार के धर्म आध्यात्मिक कल्याण के इच्छुक ब्राह्मण आदि (चार) वर्णों तथा चार आश्रम के लोगों द्वारा दीर्घ काल तक अनुष्ठित हुए थे।

❖ **(क्रमश:)** ❖

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

भैरवदत्त उपाध्याय

भारतीय विचारकों ने मानव जीवन के चार उद्देश्यों में से धर्म को भी एक उद्देश्य के रूप में निरूपित किया है। धर्महीन मनुष्य पशु है, क्योंकि धर्म-साधना के अतिरिक्त उसकी शेष समस्त प्रवृत्तियाँ पशु के समान है। धर्म के ही कारण उसे पशु से अलग किया जा सकता है। धर्म मानव को इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण प्रदान करता है। वह समाज को अनुशासित रखता है। धर्म ही मानवीय आचरण को नियमित करने और दिशा देने का कार्य भी करता है।

मनुष्य की जो मनुष्यता है, मानवीय आचरण और मानवीय गुण हैं, वही धर्म है, जिसे पाने के लिये उसे अभ्यास करना पड़ता है। अभ्यास का माध्यम शरीर है। शरीर के बिना क्या धर्म की कोई क्रिया सम्भव है? क्या शरीर के बिना अर्थ, काम और मोक्ष की साधना भी की जा सकती है? कदापि नहीं। शरीर ही चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का एकमात्र माध्यम है। वह साधना ही नहीं, अपितु अनेक साधनो का भी साधन और मुक्ति का द्वार है – **"साधन धाम मुक्ति कर दारा"**।

कुछ आत्मवादियों तथा बुद्धिवादियों ने शरीर की तुच्छता दिखाई है। शरीर की महत्ता माननेवालों को देहवादी, शरीरवादी अथवा भौतिकवादी की संज्ञा देकर उनकी उपेक्षा की गयी है। देहवाद को देहाभिमान बताकर उसे अहंकार, आसक्ति आदि का मूल माना है और उसकी कटोर निन्दा की है। बुद्धि, वैभव और मनोबल की महत्ता स्वीकार करने से शरीर के महत्त्व को आघात पहुँचा है। लोगों ने आत्मिक तथा बौद्धिक विकास के सामने शारीरिक विकास को सर्वथा तिरस्कृत किया है। पर क्या यह सच नहीं है कि शारीरिक स्वास्थ्य के बिना आत्मिक एवं बौद्धिक विकास के सम्पूर्ण प्रयासो पर पानी फिर जाता है। मानव-जीवन की ऐसी भला कौन-सी साधना या क्रिया है, जिसमें शरीर का सहयोग आवश्यक नहीं होता?

शारीरिक क्रियाओं के साथ हमारा मन भी सक्रिय होता है। कल्पनाओं को पर लगाना, उन्हें इन्द्रधनुषी रूप देकर विविध रंगों से भरना और सूर्य के प्रकाश की रेखाओं से भी परे लोकों को भेदना मन का सहज कार्य है। पर क्या जन्मान्ध इन्द्रधनुष की मौलिक कल्पना कर सकता है? क्या जन्मना पंगु गिरि-शिखरो पर चढ़ने का स्वप्न देख सकता है? क्या मूक-बधिर सुमधुर संगीत के रस का अनुभव कर सकता है? और क्या दीर्घ रोगी आशा का दीप जला सकता है? उत्तर होगा – चूँकि सद्-विचार और शुभ कल्पनाएँ स्वस्थ मन के उत्पाद हैं और स्वस्थ मन शरीर की सम्पत्ति है, अत: शरीर के स्वस्थ होने पर ही हम मन की उड़ान भर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

अज्ञता या जड़ता के कारण कुछ लोग शरीर की सजावट की ओर विशेष ध्यान देते हैं। घण्टों लगाते हैं। बड़े बड़े बाल और नाखून रखने, उन्हें रँगने, विभिन्न प्रकार की प्रसाधन की वस्तुओं का प्रयोग करते और अनेक फैशनदार कपड़े आदि से शरीर को आकर्षक बनाते हैं। यह निश्चित सीमा तक तो ठीक है, जब तक वह भद्देपन और भौंड़ेपन तक न पहुँचे, पर वे इसका ध्यान नहीं देते। यह न तो शारीरिक चेतना है और न सौन्दर्य चेतना। यह सौन्दर्य का व्यामोह है, जिसे मनोविज्ञान में नरसीसिज्म कहा गया है। नरसीपस नाम का एक यूनानी देव था, जिसने अपने प्रतिबिम्ब को देख स्वयं को अद्वितीय सौन्दर्य का स्वामी मान लिया और अन्त में चट्टानों से टकराकर मर गया। ऐसा व्यामोह अनुचित है।

शारीरिक चेतना होनी चाहिए। शारीरिक चेतना में व्यक्ति शरीर को स्वस्थ, क्रियाशील एवं कार्यरत बनाने का प्रयास करता है। वह अपने शरीर एवं समस्त अवयवों के प्रति जागरूक रहता है। वह समझता है कि असली सौन्दर्य तो उत्तम स्वास्थ्य है। इसलिए वह उपचारात्मक उपायों की अपेक्षा प्रतिरोधात्मक उपाय अपनाता है। चूँकि शरीर हमारा है और उससे अन्त तक काम लेना है, अत: हमें उसके प्रति जागरूक रहकर ऐसी दिनचर्या की आदत बनानी चाहिए, जिससे हमारे स्वास्थ्य की रक्षा और अभिवृद्धि हो। आशंकित रोगों से प्रतिरक्षा करने की क्षमता हो। इसके लिये प्रात: सूर्योदय से पूर्व उठकर नित्य क्रिया के साथ यथासाध्य नियमित व्यायाम करना चाहिए। प्रात:भ्रमण, कसरत, कुश्ती, मलखम, खेल, योगासन आदि किसी भी प्रकार का व्यायाम हो सकता है। स्मरण रहे कि इसका उद्देश्य शरीर को स्वस्थ और क्रियाशील रखना है। यह सहायक क्रिया है, मुख्य क्रिया में बाधा डालना इसका लक्ष्य नहीं है। पर देखा जाता है कि क्रिकेट आदि कुछ खेलों के प्रति लोगों में क्रेज रहता है। छात्र अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर इसके पीछे पड़े रहते हैं। शासकीय कर्मचारी भी छुट्टी लेकर टी.वी. अथवा रेडियो के सामने अड़े रहते हैं। लाखों श्रम-घण्टों की हानि होती है। मनोरंजन मनोरंजन है, उसकी सीमा है, उससे जीवन की मुख्य धारा प्रभावित नही होनी चाहिए। वह व्यसन में परिवर्तित न हो। वह कबूतरबाजी, पतंगबाजी या नशेबाजी, जैसी बाजी न बन जाय।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांगयोग की संरचना की है, जिसमें योग के चार अंग शरीर की शुद्धता के लिये और चार मन की एकाग्रता के लिये समर्पित हैं। आसनों से पूर्व नियत आहार-

(शेष अगले पृष्ठ पर)

दिव्य शक्ति का बोध

स्वामी सत्यरूपानन्द

जिस कलम से यह लेख लिखा गया है, जिस प्रेस से इसका मुद्रण हो रहा है, उन सभी के पीछे किसी एक शक्ति की ही तो क्रियाशीलता है। शक्ति का ही तो खेल है। बिना शक्ति के इस ब्रह्माण्ड में एक धूलिकण भी नहीं हिल सकता, किसी वृक्ष का एक सूखा पत्ता भी नहीं हिल सकता।

इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, जिसका भी हमें अनुभव हो रहा है, ज्ञान हो रहा है, वह सब शक्ति के कारण ही तो हो रहा है। इस तथ्य को प्रकट करने के लिए क्या किसी प्रमाण की आवश्यकता है?

शक्ति की इन विभिन्न क्रीड़ाओं की अभिव्यक्तियों का द्रष्टा, अनुभव करनेवाला मनुष्य स्वय भी शक्ति का ही एक पुज है, उसकी अभिव्यक्ति है। मनुष्य स्वय शक्तिधर है।

शक्ति ही तो जीवन है। प्राणी की प्राणशक्ति समाप्त होते ही तो वह निष्प्राण हो जाता है। शक्ति का अभाव ही मृत्यु है। सक्रियता, गतिशीलता आती है शक्ति से। मनुष्य स्वय शक्तिधर है। इसीलिए उसे शक्ति का अनुभव होता है। मनुष्य में यदि शक्ति न हो, तो वह किसी भी शक्ति का अनुभव नहीं कर सकता। मनुष्य ने अपने भीतर ही बाह्य प्रकृति की सभी शक्तियों के रहस्य को समझा है। समझकर उनका नियत्रण और उपयोग किया है। शक्ति के रहस्यपूर्ण नियमों को समझाने की शक्ति मनुष्य के भीतर ही है।

शक्ति के नियमों को एक बार ठीक ठीक समझ लेने पर फिर शक्ति का नियमन और नियत्रण अनायास ही किया जा सकता है, क्योंकि केवल मनुष्य में ही शक्ति के रहस्यों और नियमों को समझने की सामर्थ्य है। अतः मनुष्य शक्ति का नियामक और नियत्रक हो सकता है। इसलिए मनुष्य ही शक्तिधर है।

मनुष्य स्वय ही शक्ति का आगार है, अधिष्ठान है। वह स्वयं ही शक्तिस्वरूप है। शक्ति का उत्स स्वय उसके अन्तःकरण में विद्यमान है। अस्तु। ससार की किसी भी शक्ति का समुचित नियमन और नियत्रण करने के लिए मनुष्य को सर्वप्रथम अपने भीतर की शक्ति को जानना आवश्यक है। अपने भीतर की शक्ति के रहस्यों और नियमों को जान लेने पर बाहर की शक्तियों के रहस्यों तथा नियमों को जानना और समझना सहज हो जाता है।

अपने भीतर की शक्तियों को जाननेवाला मनुष्य ही वास्तव में शक्तिधर होता है। उसकी शक्ति के आगे प्रकृति की सभी शक्तियाँ नतमस्तक हो खड़ी रहती हैं। ऐसा मनुष्य ही वास्तव में शक्ति का समुचित नियत्रण और नियोजन कर सकता है। ऐसे ही व्यक्ति के हाथों में आकर विनाशकारी शक्तियाँ भी सृजनशील और कल्याणकारी हो उठती हैं। आज जबकि समस्त ससार शक्ति की विनाशकारी विभीषिका से पीड़ित और त्रस्त होकर विनाश के कगार पर खड़ा है, तब मनुष्य के अन्तःकरण में विराजमान दिव्य शक्ति का ज्ञान, उसका प्रत्यक्ष अनुभव ही उसे महाविनाश से बचा सकता है। **नान्यः पन्था विद्यते।** ❑❑❑

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

विहार आदि के निर्देश हैं, जिससे हमारे जीवन में अनुशासन और सात्विकता का उदय हो। यह इसलिए कि शारीरिक स्वस्थता अहंकार का विषय नही है। वह न तो किसी निर्बल के दमन का अस्त्र है और न उच्छृंखलता एवं आतंक का शस्त्र है। वह रोगी और निर्बलो के निमित्त प्रभुप्रदत्त संरक्षण का वरदान है, विनम्रता जिसका अलंकार है।

जीवन का चरम लक्ष्य है, पूर्णता की प्राप्ति – पूर्णत्व का विकास, अक्षमताओं का निवारण, क्षमताओ की वृद्धि। शारीरिक पूर्णता, दैहिक अर्हता के बिना मानव की पूर्णता, पूर्णता की आकांक्षा और साधन व्यर्थ है। आत्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक पूर्णत्व इसके परवर्ती सोपान हैं। संसार में पूजा बल की होती है। हनुमान बल के कारण ही पूज्य हुए हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण राक्षसों को मारने के कारण ही पूज्य हुए हैं। माता-पिता बलवान पुत्र की कामना करते हैं – **वीराः पुत्राः मे भवन्तु।** यह आत्मा भी बलहीन के द्वारा प्राप्त नही की जा सकती – **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।** जो स्वस्थ हैं, वीर है, वे लोग ही सांसारिक सुखो का आनन्द भी उठा सकते हैं – **वीर भोग्या वसुन्धरा।**

हमारे शरीर के मन्दिर में वीरता की देवी की प्रतिष्ठा है, जिनकी आराधना शरीर के माध्यम से ही हो सकती है। तब क्या शारीरिक स्वस्थता और उसकी बलिष्ठता हमारा प्राथमिक लक्ष्य नही है? हमें चाहिए कि हम उस लक्ष्य की ओर सतत जागरूक रहें। ❑❑❑

तुलसी और उनकी रामनिष्ठा

ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

(यह संक्षिप्त चरित गोस्वामी जी के समकालीन श्री बेनीमाधव दास रचित 'मूल गोसाई-चरित' नामक पोथी के आधार पर लिखा गया है। कुछ लोगों ने इसे अप्रामाणिक माना है, पर महात्मा बालकदास जी, बाबू श्यामसुन्दर दास, श्री रामदास जी गौड़ आदि ने इसे परम विश्वसनीय तथा प्रामाणिक माना है। गोस्वामी जी से बेनीमाधव दास जी की प्रथम भेंट संवत् १६०९ से १६१६ के बीच हुई। गोस्वामी जी संवत् १६८० में साकेतवासी हुए थे। सुदीर्घ काल तक परिचय रखनेवाले व्यक्ति द्वारा लिखी जीवनी को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। – सं.)

सन्तों का मत है कि भगवद्भक्ति में ही जीव का परम कल्याण है। सभी प्राणियों को भक्त एवं सन्त बनाना ही सन्तों का लक्ष्य रहा है। सभी धर्मों की सफलता भी भगवद्भक्ति ही है, पर यह किसी बड़े सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होती है। इसलिए सभी लोग भक्ति-मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाते। अत: भगवान ने सोचा कि यदि इस क्रम से इतने स्वल्प जीव मेरे भक्ति-प्रेम की उपलब्धि कर सकेंगे, तब तो कल्पों में भी प्रेम पानेवालों की संख्या अँगुली पर गिनने के बराबर ही रहेगी। इसलिए अब मुझे स्वयं जीवों के बीच चलना चाहिये, प्रकट होना चाहिये और ऐसी लीला करनी चाहिये कि मेरे अन्तर्धान हो जाने पर भी वे मेरे गुणों और लीलाओं का कीर्तन, श्रवण एवं स्मरण करके मेरे प्रति सच्चा प्रेम प्राप्त कर सकें।

भगवान आये, उनके गुण-लीला-स्वरूप के कीर्तन-श्रवण-मनन की प्रेरणा भी आयी। अभी लीला-संवरण हो भी नहीं पाया था कि वाल्मीकि ने उन्हीं के पुत्र लव-कुश के द्वारा उनकी कीर्ति का गायन कराकर सुना दिया और भगवान से उनकी यथार्थता की स्वीकृति भी कर ली। जगत् में आदि कवि हुए वाल्मीकि और आदिकाव्य हुआ उनके द्वारा रचित श्रीमद् रामायण। पर उसका भी प्रसार संस्कृत भाषा में होने के कारण जब कुछ सीमित-सा होने लगा, तो भगवत्कृपा से गोस्वामी तुलसीदास जी का प्राकट्य हुआ, जिन्होंने सरल, सरस हिन्दी भाषा में मानस की रचना की।

उन दिनों मध्यकाल में भारत की परिस्थिति बड़ी विषम थी। विधर्मियों का बोलबाला था। वेद, पुराण, शास्त्र आदि सद्ग्रन्थ जलाये जा रहे थे। गुप्त एवं प्रकट रूप से चेष्टा हो रही थी कि एक भी हिन्दू बाकी न रह जाय। धर्मप्रेमी निराश-से हो गये थे। तभी भगवत्कृपा से श्रीमद्-रामानन्द जी के सम्प्रदाय में महाकवि का प्रादुर्भाव हुआ।

नरहरि स्वामी ने वैष्णव संस्कार-पूर्वक उन्हें राममंत्र की दीक्षा दी। अवध में ही उन्होंने दस महीनों तक हनुमान टीले पर निवास किया। हेमन्त ऋतु आने पर गुरु-शिष्य दोनों ने अवधपुरी से प्रस्थान किया और सूकर-क्षेत्र (सोरों) पहुँच गये। वहीं गुरुजी ने प्रेम से तुलसीदास जी को रामकथा सुनायी। **मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत** – ऐसा कहकर गोस्वामी जी ने इस बात का स्मरण भी दिलाया है।

कुछ दिनों बाद वे काशी आये। काशी के शेष सनातन जी तुलसीदास की योग्यता पर रीझ गये। उन्होंने नरहरिदास जी से माँगकर उन्हें पन्द्रह वर्ष तक अपने पास रखा और सम्पूर्ण वेद-वेदांगों का अध्ययन कराया। तुलसीदास जी ने विद्याध्ययन तो कर लिया, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों उनका भजन कुछ शिथिल पड़ गया। उनके हृदय में लौकिक वासनाएँ जाग उठीं और उन्हें अपनी जन्मभूमि का स्मरण हो आया। अपने विद्यागुरु की अनुमति लेकर वे राजापुर पहुँचे।

राजापुर में अब उनके घर का ढूहा मात्र अवशेष था। पूछताछ करने पर गाँव के भाँट ने बताया, "जब नाई ने हरिपुर से आकर कहा कि अपने बालक को ले आओ और आत्माराम जी ने अस्वीकार कर दिया, तभी एक सिद्ध ने शाप दे दिया कि छह महीने के भीतर तुम्हारा और दस वर्ष के भीतर तुम्हारे वंश का नाश हो जाय। वैसा ही हुआ। इसलिए अब तुम्हारे वंश में कोई नहीं है।"

इसके बाद गोस्वामी जी ने विधिपूर्वक पिण्डदान एवं श्राद्ध किया। ग्रामवासियों ने आग्रह करके मकान उनका बनवा दिया और वे वहीं रहकर लोगों को भगवान राम की कथा सुनाने लगे। कार्तिक की द्वितीया को भारद्वाज गोत्र के एक ब्राह्मण अपने कुटुम्ब के साथ वहाँ यमुना-स्नान करने आये। कथा सुनते समय उन्होंने गोस्वामी जी को देखा और मन-ही-मन मुग्ध होकर कुछ दूसरा ही संकल्प करने लगे। उन्होंने गाँव के लोगों से उनकी जाति-पाँति पूछ ली और अपने घर लौट गये।

वैशाख के महीने में वे पुन: आये और तुलसीदास जी से बड़ा आग्रह किया कि वे उनकी कन्या का पाणिग्रहण कर लें। तुलसीदास ने पहले तो स्पष्ट रूप से मना कर दिया, परन्तु जब वे अनशन करते हुए धरना देकर बैठ गये, तो मान गये। संवत् १५८३ (१५२६ ई.) में, ज्येष्ठ शुक्ल १३, गुरुवार की आधी रात को विवाह सम्पन्न हुआ। अपनी नव-विवाहिता वधू को लेकर तुलसीदास जी अपने ग्राम राजापुर आ गये।

एक बार जब उसने अपने पीहर जाने की इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने अनुमति नहीं दी। वर्षों बाद जब एक दिन वह अपने भाई के साथ मायके चली गयी, तब वे भी निकल पड़े। रात के समय किसी प्रकार नदी पार करके जब वे ससुराल

पहुँचे, तो सब लोग किवाड़ बन्द करके सो गये थे। तुलसीदास ने आवाज दी, उनकी स्त्री ने पहचानकर द्वार खोल दिये। उसने कहा कि – 'प्रेम में तुम इतने अन्धे हो गये थे कि अँधेरी रात की भी सुधि नहीं रही, धन्य हो! मेरे इस हाड़-मांस के शरीर से तुम्हारा जितना मोह है, उसका आधा भी भगवान से होता, तो इस भयंकर संसार से तुम्हारी मुक्ति हो जाती –

हाड़ मांस को देह मम, तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटहि भवभीति।।

यह सुनकर वे एक क्षण भी न रुके और उल्टे पाँव वहाँ से लौट पड़े। अब उन्हें अपने गुरु के वचन याद आ गये और वे मन-ही-मन उसका जप करने लगे –

नरहरि कंचन कामिनी, रहिये इनते दूर।
जो चाहिय कल्याण निज, राम दरस भरपूर।।

जब उनकी पत्नी के भाई को यह बात ज्ञात हुई, तो वह उनके पीछे दौड़ा, परन्तु वे मनाने पर भी लौटे नहीं। तुलसीदास जी ससुराल से चलकर प्रयाग आये। वहाँ गृहस्थ-वेश छोड़कर उन्होंने साधु-वेश धारण किया। फिर वे अयोध्या, पुरी, रामेश्वर, द्वारका, बदरीनारायण, मानसरोवर आदि स्थानों में तीर्थाटन करते हुए काशी पहुँचे। मानसरोवर के पास उन्हें अनेक सन्तों के दर्शन हुए। वे कागभुशुण्डि जी से मिले और कैलाश की प्रदक्षिणा भी की। इस प्रकार अपनी ससुराल से चलकर तीर्थ-यात्रा करते हुए काशी पहुँचने में उन्हें काफी समय लग गया।

काशी में प्रह्लाद-घाट पर वे प्रतिदिन वाल्मीकि रामायण की कथा सुनने जाया करते थे। वहाँ एक विचित्र घटना घटी। तुलसीदास जी शौच के लिए प्रतिदिन जंगल में जाते और लौटते समय बचे हुए जल को एक पीपल-वृक्ष के नीचे गिरा देते। उस पीपल पर एक प्रेत रहता था। उस जल से प्रेत की प्यास मिट जाती। जब प्रेत को पता चला कि ये महात्मा हैं, तो एक दिन प्रकट होकर उसने कहा, "तुम्हारी जो इच्छा हो कहो, मैं उसे पूरा करूँगा।" तुलसीदास जी बोले, "मैं प्रभु श्रीराम का दर्शन करना चाहता हूँ।" प्रेत ने थोड़ा सोचकर कहा, "कथा सुनने के लिये प्राय: प्रतिदिन कोढ़ी के वेश में श्री हनुमानजी आते हैं। वे सबसे पहले आते हैं और सबसे पीछे जाते हैं। समय देखकर उनके चरण पकड़ लेना और हठ करके भगवान के दर्शन कराने को कहना।" गोस्वामी जी ने वैसा ही किया। हनुमान जी बोले, "तुम्हें चित्रकूट में भगवान के दर्शन होंगे।" तुलसीदास जी ने चित्रकूट की यात्रा की।

चित्रकूट पहुँचकर वे मन्दाकिनी नदी के किनारे रामघाट पर ठहर गये। वे प्रतिदिन मन्दाकिनी में स्नान करते, मन्दिर में भगवान के दर्शन करते, रामायण-पाठ करते और निरन्तर भगवन्नाम का जप करते। एक दिन वे प्रदक्षिणा करने गये। मार्ग में उन्होंने देखा कि दो बड़े ही सुन्दर राजकुमार घोड़ों पर सवार होकर हाथ में धनुष-बाण लिये शिकार खेलने चले जा रहे हैं। उन्हें देखकर तुलसीदास जी मुग्ध हो गये, परन्तु यह नहीं जान सके कि ये कौन हैं। वस्तुत: उन्हें अनुप-रूप भूप-शिरोमणि भगवान राम तथा लक्ष्मण के दर्शन हुए थे। बाद में हनुमान जी ने प्रकट होकर सारा भेद बताया। वे पश्चाताप करने लगे। हनुमान जी ने उन्हें धैर्य दिया कि सुबह फिर दर्शन होंगे। तब जाकर गोस्वामी जी को सन्तोष हुआ।

संवत् १६०७ (१५५० ई.), मौनी अमावस्या, बुधवार की बात है। प्रात:काल गोस्वामी तुलसीदास जी पूजा के लिये चन्दन घिस रहे थे। तभी भगवान राम और लक्ष्मण ने आकर उनसे तिलक लगाने को कहा। हनुमानजी ने सोचा कि शायद इस बार भी तुलसीदास न पहचानें, इसलिये उन्होंने तोते का वेश धारण करके चेतावनी का दोहा पढ़ा –

चित्रकूट के घाट पर भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसें तिलक देत रघुवीर।।

इस दोहे को सुनकर तुलसीदास अतृप्त नेत्रों से भगवान राम की मनमोहिनी छवि-सुधा का पान करने लगे। देह की सुधि भूल गयी, आँसुओं की धारा बह चली। अब चन्दन कौन घिसे! भगवान ने पुन: कहा कि बाबा! मुझे चन्दन दो! परन्तु सुनता कौन? वे बेसुध पड़े थे। भगवान ने अपने हाथ से चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदास के ललाट में तिलक किया और अन्तर्धान हो गये। तुलसीदास जलविहीन मछली की भाँति विरह-वेदना में तड़फड़ाने लगे। सारा दिन कैसे बीत गया, उन्हें पता ही नहीं चला। रात में हनुमान जी ने आकर जगाया और उनकी दशा सुधार दी। उन दिनों तुलसीदास की बड़ी ख्याति हो गयी थी। उनके द्वारा कई चामत्कारिक घटनाएँ भी घट गयी थीं, जिनसे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी और बहुत-से लोग उनके दर्शन को आने लगे।

संवत् १६१६ (१५५९ ई.) में जब तुलसीदास जी कामदगिरि के पास निवास कर रहे थे, तब गोस्वामी श्री गोकुलनाथ जी की प्रेरणा से श्री सूरदास जी उनसे मिलने आये। उन्होंने तुलसीदास जी को अपना सूरसागर दिखाया और दो पद गाकर सुनाये। गोस्वामी जी ने ग्रन्थ को उठाकर हृदय से लगा लिया और भगवान श्रीकृष्ण की बड़ी महिमा गायी। सूरदास जी ने हाथ पकड़कर उन्हें सन्तुष्ट किया और गोकुलनाथ जी को एक पत्र लिख दिया। सात दिन सत्संग करके सूरदास जी लौट गये।

उन्हीं दिनों मेवाड़ से सुखपाल नामक ब्राह्मण मीराबाई का एक पत्र लेकर आया था। उनकी चिट्ठी पढ़कर तुलसीदास जी ने यह पद बनाकर उत्तर दिया कि सब छोड़कर भगवान का भजन करना ही उत्तम है –

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।

तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रज-बनितन्हि, भये मुदमंगलकारी ।।
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ।।
तुलसीदास सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो ।
जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो ।।

इसके बाद गोस्वामी जी काशी पहुँचे और वहाँ प्रह्लाद-घाट पर एक ब्राह्मण के घर निवास किया। वहाँ उनकी कवित्व-शक्ति स्फुरित हो गयी और वे संस्कृत में रचना करने लगे। वहाँ एक अद्‌भुत बात यह होने लगी कि वे दिन में जितनी भी रचना करते, रात में वे सभी लुप्त हो जाती। यह घटना रोज घटती। पर वे समझ नहीं पाते कि मुझे क्या करना चाहिये।

आठवें दिन तुलसीदास जी को स्वप्न हुआ। भगवान शंकर ने कहा कि तुम अपनी भाषा में काव्य-रचना करो। नींद उचट गयी। तुलसीदास जी उठकर बैठ गये। उनके हृदय में स्वप्न की आवाज गूँजने लगी। उसी समय भगवान शिव और माता पार्वती दोनों ही उनके सामने प्रकट हुए। तुलसीदास ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। शिवजी बोले, "भैया ! अपनी मातृभाषा मे काव्य-निर्माण करो. संस्कृत के पचड़े में मत पड़ो। वही करना चाहिये, जिससे सबका कल्याण हो। बिना सोचे-विचारे अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है। तुम जाकर अयोध्या मे रहो और वहीं काव्य-रचना करो। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारी कविता सामवेद के समान सफल होगी।" इतना कहकर गौरीशंकर अन्तर्धान हो गये और उनकी कृपा तथा अपने सौभाग्य की प्रशंसा करते हुए तुलसीदास जी अयोध्या पहुँचे।

तुलसीदास जी वहीं रहने लगे। एक ही समय केवल दूध पीते थे। भगवान पर निर्भरता थी। संसार की चिन्ता उन्हें छू तक न पाती थी। कुछ दिन यों ही बीते। संवत् १६३१ (१५७४ ई.) आ गया। उस वर्ष चैत्र शुक्ल रामनवमी के दिन प्राय: वैसा ही योग जुट गया था, जैसा त्रेता में रामजन्म के दिन था। उस दिन प्रात:काल श्रीहनुमानजी ने प्रकट होकर तुलसीदास का अभिषेक किया। शिव, पार्वती, गणेश, सरस्वती, नारद और शेष ने आशीर्वाद दिये और उनकी कृपा तथा आज्ञा पाकर तुलसीदास जी ने 'श्रीराम-चरित-मानस' की रचना प्रारम्भ कर दी। दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिन में 'मानस' की रचना पूरी हुई। संवत् १६३३ (१५७६ ई.), मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष में रामविवाह के दिन सातों काण्ड पूर्ण हो गये।

यह कथा पाखण्डियों के छल-प्रपंच को मिटानेवाली है; पवित्र सात्त्विक धर्म का प्रचार करनेवाली है; कलिकाल के पाप-कलाप का नाश करनेवाली है; भगवत्प्रेम की छटा छिटकानेवाली है; सन्तों के चित्त में भगवत्प्रेम की लहर पैदा करनेवाली है और भगवत्प्रेम श्री शिवजी की कृपा के अधीन है – यह रहस्य बतानेवाली है। इस दिव्य ग्रन्थ की समाप्ति मंगलवार को हुई, उसी दिन इस पर लिखा गया – शुभमिति हरि:ॐतत्सत्। देवताओं ने जय-जयकार की ध्वनि की और फूल बरसाये, गोस्वामी जी को वरदान दिये, रामायण की प्रशंसा की। 'मानस' क्या है – इसे सभी अपने अपने भाव के अनुसार समझते व ग्रहण करते हैं। परन्तु अब भी उसकी वास्तविक महिमा का स्पर्श विरले ही लोग कर सके होंगे।

मनुष्यों में सबसे प्रथम यह ग्रन्थ सुनने का सौभाग्य हुआ – मिथिला के परम सन्त श्रीरूपारुण स्वामीजी को। वे निरन्तर विदेह जनक के भाव में ही मग्न रहते थे और श्रीराम जी को अपना जामाता समझकर प्रेम करते थे। गोस्वामी जी ने उन्हीं को सबसे अच्छा अधिकारी समझा और 'मानस' सुनाया। इसके बाद बहुतों ने रामायण की कथा सुनी। उन्हीं दिनों भगवान की आज्ञा हुई कि तुम काशी जाओ और गोस्वामी जी ने वहाँ से प्रस्थान किया और काशी आकर रहने लगे।

मानस के प्रचार से काशी के संस्कृत-पण्डितों के मन में बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा – हमारा तो सब मान-माहात्म्य ही खो जायेगा। वे दल बाँधकर गोस्वामी जी की निन्दा करने लगे और उनके ग्रन्थ को ही नष्ट कर देने का उद्योग करने लगे। 'मानस' को चुराने के लिये दो चोर भेजे गये। उन्होंने जाकर देखा कि तुलसी की कुटी के आसपास दो वीर हाथ में धनुष-बाण लेकर पहरा दे रहे हैं। वे बड़े ही सुन्दर श्याम और गौर वर्ण के थे। रात भर उनकी सावधानी देखकर चोर बड़े प्रभावित हुए और उनके दर्शन से उनकी बुद्धि भी शुद्ध हो गयी। उन्होंने जाकर गोस्वामी जी से सब वृतान्त कहा और पूछा कि आपके ये पहरेदार कौन हैं? गोस्वामी जी की आँखों से आँसू की धारा बह चली, वाणी गद्‌गद हो गयी। वे अपने प्रभु के कृपा-समुद्र में डूबने-उतराने लगे। उन्होंने अपने को सँभालकर कहा, "तुम लोग बड़े भाग्यवान हो, धन्य हो कि तुम्हें प्रभु के दर्शन प्राप्त हुए।" चोरों ने अपना रोजगार छोड़ दिया और भजन में लग गये। गोस्वामी जी ने कुटी की सब वस्तुएँ लुटा दीं और मूल पुस्तक को यत्नपूर्वक अपने मित्र टोडरमल के घर रख दिया। गोस्वामी जी ने एक दूसरी प्रति लिखी। उसी के आधार पर पुस्तक की प्रतिलिपियाँ तैयार होने लगीं। दिन-दूना, रात-चौगुना प्रचार होने लगा। पण्डितों का दु:ख बढ़ने लगा। वे लोग प्रसिद्ध तांत्रिक वटेश्वर मिश्र के पास जाकर बोले, "हम लोगों को बड़ी पीड़ा हो रही है, जैसे भी हो तुलसीदास का अनिष्ट होना चाहिये।" उन्होंने मारण-प्रयोग किया और प्रेरणा करके भैरव को भेजा। भैरव गोस्वामी जी के आश्रम पर गये और वहाँ हनुमानजी को उनकी रक्षा करते हुए देखकर भयभीत होकर वापस लौट आये। मारण का प्रयोग करनेवाले वटेश्वर मिश्र के प्राणों पर ही आ बनी।

परन्तु अब भी पण्डितों का समाधान नहीं हुआ। उन्होंने श्री मधुसूदन सरस्वती जी के पास जाकर कहा – "भगवान शिव ने उनकी पुस्तक पर सही तो कर दी है, परन्तु यह किस श्रेणी की पुस्तक है, यह बात नहीं बतलायी है। अब आप उसे देखकर बताइये कि वह किसके समकक्ष है।" श्री मधुसूदन सरस्वती जी ने रामायण की पुस्तक मँगाई। उसका आद्योपान्त अवलोकन करने पर उन्हें परम आनन्द हुआ। उन्होंने उस पुस्तक पर अपनी सम्मति लिख दी –

आनन्दकानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसीतरुः
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूषिता ।।

– इस आनन्द-कानन रूप वाराणसी में तुलसीदास जी सचल तुलसी के पौधे के समान हैं, जिनकी कविता रूपी मंजरी पर श्रीराम रूपी भ्रमर मँडराते रहते हैं।

टोडरमल ने गोस्वामी तुलसीदास जी के निवास हेतु अस्सी घाट पर एक स्थान और एक मन्दिर बनवा दिया। गोस्वामी जी वहीं रहने लगे।

एक बार गोस्वामी जी ने जनकपुर की यात्रा की। रास्ते में उन्होंने बहुत-से लोगों का कल्याण किया। अनेकों चमत्कार प्रकट हुए। एक स्थान पर धनीदास ने आकर कहा, "कल मेरे प्राण जानेवाले हैं, यह कहकर कि भगवान स्वयं भोजन कर रहे हैं, मैंने चूहे को नैवेद्य खिला दिया। यहाँ के जमींदार रघुनाथ सिंह को मेरा अपराध मालूम हो गया है। उन्होंने कहा है कि कल यदि मेरे सामने भगवान भोजन नहीं करेंगे, तो मैं तुम्हारा वध कर डालूँगा। अब आप ही मेरी रक्षा कीजिये।" गोस्वामी जी ने उन्हें ढाढ़स बँधाया। धनीदास ने रसोई बनायी और जमींदार के सामने आकर भगवान ने भोजन किया। गोस्वामी जी ने भगवान की महिमा गायी, जमींदार उन्हें अपने घर ले गया। उन्होंने उस गाँव का नाम बदल कर रघुनाथपुर रख दिया। वहाँ से चलकर विचरते विचरते वे मिथिला के पास ही स्थित हरिहर क्षेत्र पहुँचे। श्री जनकनन्दिनी जानकी जी एक बालिका का वेश धारण करके आयीं और गोस्वामी जी को खीर खिलाया। यह बात ज्ञात होने पर गोस्वामी जी उनकी अहैतुकी कृपा का अनुभव कर भाव-विह्वल हो गये।

आगे चलने पर कुछ ब्राह्मणों ने उनके पास आकर कहा – "हम लोग बड़ी विपत्ति में हैं। यहाँ के नवाब ने हमारी बारहों गाँवों की वृत्ति छीन ली है।" गोस्वामी जी ने हनुमान जी का स्मरण किया और उन्होंने दण्ड देकर उन लोगों की वृत्ति वापस करा दी। संवत् १६४० में वे मिथिला से काशी लौट आये और दोहावली की रचना की। संवत् १६४२, फाल्गुन शुक्ल पञ्चमी को उन्होंने 'पार्वतीमंगल' की रचना प्रारम्भ की –

जय संवत् फागुन सुदि पाँचैं गुरु दिनु ।
अस्विनि विरचेऊँ मंगल सुनि सुख छिन छिनु ।।

एक बार काशी में महामारी का प्रकोप हुआ। सब लोगों ने बड़ी दीनता से प्रार्थना की – "महाराज ! आप हम लोगों की प्रार्थना सुनिये। हम लोग बड़े निर्बल हैं। हमारी रक्षा स्वयं भगवान या उनके सेवक ही कर सकते हैं।" उनकी दीनता देखकर गोस्वामी जी का कोमल चित्त द्रवित हो गया और उन्होंने कवित्त बनाकर भगवान से प्रार्थना की। भगवान की कृपा से महामारी शान्त हो गयी, सब लोग सुखी हो गये।

एक दिन महाकवि केशवदास तुलसीदास जी से मिलने आये। बाहर से उन्होंने सूचना भेजी – मिलना चाहता हूँ। गोस्वामी जी बोले, "केशव प्राकृत कवि हैं, उन्हें आने दो।"

यह बात केशव के कानों में पड़ी। वे बिना मिले ही लौट गये। अपनी तुच्छता उनकी समझ में आ गयी और वहाँ के सेवक के पुकारने पर उन्होंने कहा – कल आऊँगा। घर जाकर उन्होंने 'रामचन्द्रिका' की रचना की और फिर उसके बाद गोस्वामी जी के पास गये। दोनों खूब हृदय से मिले। प्रेम-भक्ति का आनन्द छा गया।

एक बार आदिल शाही के राज्य के थानाध्यक्ष दत्तात्रेय नाम के ब्राह्मण गोस्वामी जी के पास आये। उनके प्रसाद माँगने पर गोस्वामी जी ने अपनी हस्तलिखित 'दोहावली-रामायण' की पोथी दे दी। उन दिनों जिस पर विपत्ति आती, वही गोस्वामी जी के पास आता और गोस्वामी जी उनकी रक्षा करते। तीर्थयात्रा करता हुआ एक प्रेत नीमसार के वनखण्डी जी के पास आया। गोस्वामी जी के दर्शन मात्र से ही वह प्रेत-योनि से मुक्त हो गया और दिव्य रूप धारण करके भगवान के धाम में चला गया। वनखण्डी जी की प्रार्थना पर गोस्वामी जी ने तीर्थयात्रा की। अयोध्या में पहुँचकर उन्होंने गायक को 'राम-गीतावली' दे दी। वहाँ से वे अनेकों तीर्थों में गये, कहीं दुखियों की रक्षा करते, तो कहीं सत्संग से साधुओं को आनन्दित करते और कहीं भगवान की कथा कहते। उस यात्रा में गोस्वामी जी ने कितने लोगों का लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कल्याण-साधन किया – यह वर्णनातीत है।

नीमसार पहुँचकर गोस्वामी जी ने वनखण्डी जी की इच्छा के अनुसार सभी तीर्थ-स्थलों को ढूँढ़ निकाला और उनका जीर्णोद्धार किया। यह संवत् १६४९ की बात है। वहाँ से वे अनेक स्थानों में होते हुए वृन्दावन पहुँचकर रामघाट पर ठहरे। चारों ओर धूम मच गयी। लोग दर्शन के लिये आने लगे। गोस्वामी जी नाभादास जी के पास गये। उन्होंने बड़ा सम्मान किया। फिर उन्हीं के साथ भगवान का दर्शन करने के लिये श्री मदनमोहन जी के दर्शन करने गये। तुलसीदास जी को राम-उपासक जानकर मदनमोहन जी ने धनुष-बाण धारण कर उन्हें राम-रूप में दर्शन दिया। भगवान बड़े ही भक्तवत्सल हैं, उनकी लीला ऐसी ही होती है। बरसाने भर में यह बात फैल गयी, गोस्वामी जी के स्थान पर बड़ी भीड़ हो गयी। कुछ

कृष्ण उपासकों के मन में द्वेष-भाव आ गया, वे धनुष-बाण धारण करने पर शंका करने लगे। उन्हें गोस्वामी जी ने समझाया – "भैया ! राम ने अपने सेवकों का प्रण कब नहीं रखा है? वे सर्वदा अपने भक्तों की इच्छा पूर्ण करते हैं।"

कुछ लोग दक्षिण देश में भगवान राम की मूर्ति लेकर स्थापना करने के लिये अयोध्या जी जा रहे थे। यमुना-तट पर उन्होंने विश्राम किया। उदय नाम के ब्राह्मण वह मूर्ति देखकर मुग्ध हो गये। उन्होंने चाहा कि इस मूर्ति की स्थापना यहीं हो जाय। उन्होंने गोस्वामी जी से प्रार्थना की। दूसरे दिन जब उन लोगों ने उस प्रतिमा को उठाकर ले जाना चाहा, तो वह उठी ही नहीं। तब उसकी स्थापना वहीं कर दी गई। गोस्वामी जी ने उनका नाम कौसल्या-नन्दन रख दिया। गोस्वामी जी के विद्यार्थी-जीवन के गुरुभाई नन्ददासजी कनौजिया यहीं मिले। उनके साथ भगवान का दर्शन एवं प्रसाद पाकर भक्तों को आनन्दित कर गोस्वामी जी ने चित्रकूट की यात्रा की।

दिल्ली के बादशाह (अकबर) ने आदमी भेजकर गोस्वामी जी को बुलवाया। जब गोस्वामी जी चित्रकूट से चलकर ओरछा होते हुए दिल्ली जाने लगे, तब ओरछे के पास रात में केशवदास प्रेत के रूप में उनसे मिले। गोस्वामी जी ने बिना प्रयास ही उनका उद्धार किया और वे विमान पर चढ़कर स्वर्ग चले गये। चरवारी के ठाकुर की अत्यन्त सुन्दर पुत्री का विवाह एक स्त्री के साथ हो गया था। हुआ यह कि उस स्त्री की माता ने सन्तान होते ही घोषणा कर दी थी कि हमारे यहाँ पुत्र हुआ है। परन्तु अब विवाह हो जाने के बाद भला क्या हो सकता था? गोस्वामी जी के उधर से होकर निकलने पर लोगों ने उन्हें घेर लिया और प्रार्थना की कि इस कन्या की रक्षा कीजिये। गोस्वामी जी ने श्रीरामचरितमानस का नवाह्न का पाठ किया और वह स्त्री रूपान्तरित होकर पुरुष बन गयी। यह देखकर गोस्वामी जी का शरीर पुलकित हो गया और उनके मुँह से सहज भाव से 'जय जय सीताराम' निकल गया।

गोस्वामी जी दिल्ली पहुँचे। बादशाह ने दरबार में बुलाकर उनसे कहा – कोई चमत्कार दिखाओ। गोस्वामी जी बोले – मुझे कोई चमत्कार नहीं आता। बादशाह ने खीझकर उन्हें कैद कर लिया। जेल में उन्होंने – **ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले** – पद की रचना की। इसके बाद तो वानरों ने ऐसा उत्पात किया कि महल में कुहराम मच गया। बादशाह को भी बड़ी चोट आयी, गोस्वामी जी तत्काल जेल से छोड़ दिये गये और बड़ा अनुनय-विनय करके उनसे अपराध क्षमा कराया गया। बादशाह ने बड़े सम्मान के साथ उन्हें विदा किया।

दिल्ली से चलकर अनेक प्राणियों का उद्धार करते हुए, लोगों को अपने धर्म में स्थिर और भगवान की ओर उन्मुख कराते हुए वे अयोध्या पहुँचे। वहाँ एक भक्त भजन गाया करते थे। उनके भजन में कुछ अशुद्धियाँ थीं। गोस्वामी जी ने उसे सुधारने को कहा। पर वे सुधार न सके और इससे उनके भजन में विघ्न पड़ गया। स्वप्न में भगवान ने गोस्वामी जी से कहा, "तुम उसके भजन में शुद्ध-अशुद्ध का विचार न करो। वह जैसे भजन करता है, करने दो !" गोस्वामी जी ने जाकर कहा, "तुम जैसे गाते थे, वैसे ही गाया करो।" गोस्वामी जी ने उनके मुख से भगवान की बाललीला सुनी। बड़ा आनन्द हुआ। गोस्वामी जी ने उन्हें पीताम्बर देकर सम्मानित किया।

मुरारीदेव से भेंट करने के बाद गोस्वामी जी मलुकदास के साथ काशी आये। काशी में उन्होंने क्षेत्र-संन्यास ले लिया। शरीर वृद्ध हो गया था, तो भी वे माघ के महीने में सूर्योदय से पूर्व गंगा में खड़े होकर मंत्र-जप किया करते थे। रोयें खड़े रहते, शरीर काँपता रहता, पर उन्हें इसकी तनिक भी परवाह नहीं। एक दिन गंगा-स्नान करके निकलते समय एक वेश्या पर उनकी धोती का दो बूँद छींटा पड़ गया। उसकी मनोदशा ही बदल गयी। वह बहुत देर तक उन्हें एकटक देखती रही, पीछे उसके मन में बड़ा विराग हुआ। उसकी आँखों के सामने नरक के अनेकों दृश्य आ गये। उसने सब बखेड़ों से पिण्ड छुड़ा लिया और उपदेश लेकर भगवान के गुणगान करने लगी। गंगा-पार हरीदत्त नाम के ब्राह्मण रहते थे। वे बड़े ही निर्धन थे। उन्होंने गोस्वामी जी को अपना दु:ख सुनाया। गोस्वामी जी ने गंगा माता से प्रार्थना की। उन्होंने उसे बहुत-सी जमीन देकर उसकी विपत्ति नष्ट कर दी।

भुलई नाम का एक कलवार था। वह भक्तिमार्ग तथा गोस्वामी जी की निन्दा किया करता था। उसकी मृत्यु हो गयी। सब लोग उसे टिकठी पर सुलाकर श्मशान ले गये। उसकी स्त्री रोती हुई आयी। उसने गोस्वामी जी को प्रणाम किया। गोस्वामी जी के मुँह से निकल गया – सौभाग्यवती होओ ! जब उसने अपने पति की दशा बतलायी, तो गोस्वामी जी ने उसके शव को अपने पास मँगवा लिया और मुँह में चरणामृत देकर उसे जीवित कर दिया। उसी दिन से गोस्वामी जी ने नियम ले लिया और बाहर बैठना छोड़ दिया।

तीन बालक बड़े ही पुण्यात्मा थे। वे प्रतिदिन गोस्वामी जी के दर्शन के लिये आते थे। गोस्वामी जी उनका प्रेम पहचानते थे। वे केवल उन्हें ही दर्शन देने के लिये बाहर निकलते और फिर अन्दर बैठ जाते। जिन्हें दर्शन नहीं मिलता, वे लोग इस बात से अप्रसन्न थे और गोस्वामी जी को पक्षपाती बतलाते। एक दिन गोस्वामी जी ने उनका महत्व सब लोगों पर प्रकट किया। उनके आने पर भी वे बाहर नहीं निकले। गोस्वामी जी का दर्शन न मिलने पर उन तीनों ने अपने शरीर त्याग दिये। गोस्वामी जी बाहर निकले और सबके सामने भगवान का चरणामृत पिलाकर उन्हें पुन: जीवनदान किया।

संवत् १६६९ वैशाख शुक्ल में टोडरमल जी का देहान्त हुआ। पाँच माह बाद गोस्वामी जी ने उनकी सारी धन-सम्पत्ति उनके दोनों पुत्रों में बाँट दी। इसके बाद उन्होंने कई और छोटी-मोटी रचनाएँ कीं। बाहु-पीड़ा होने पर 'हनुमान-बाहुक' लिखा। पहले के ग्रन्थों को दुहराया, दूसरों से लिखवाया। संवत् १६७० बीतने पर बादशाह जहाँगीर आये। वे बहुत-सी जमीन तथा धन देना चाहते थे, पर गोस्वामी जी ने ली नहीं। एक दिन बीरबल की चर्चा हुई। उनकी बुद्धि और वाक्पटुता की प्रशंसा की गयी। गोस्वामी जी बोले, "खेद की बात है कि इतनी बुद्धि पाकर भी उन्होंने भगवान का भजन नहीं किया।"

एक दिन अयोध्या का भंगी आया। गोस्वामी जी ने उसे भगवत्स्वरूप समझकर अपने हृदय से लगा लिया। गिरनार के बहुत से सिद्ध आकाश मार्ग से आये। तुलसीदास जी का दर्शन करके वे बड़े आनन्दित हुए। उन्होंने बड़े प्रेम से पूछा – "क्या कारण है कि तुम कलियुग में रहते हो, फिर भी काम से प्रभावित नहीं होते? यह योग की शक्ति है या भक्ति का बल है?" गोस्वामी जी ने कहा – "मुझमें न भक्ति का, न ज्ञान का और न ही योग का बल है। मुझे तो केवल भगवान के नाम का भरोसा है।" गोस्वामी जी का उत्तर सुनकर सिद्धगण बहुत प्रसन्न हुए। उनसे आज्ञा लेकर वे गिरनार चले गये।

गोस्वामी जी के पास चन्द्रमणि नाम का एक भाट आया। उनके चरणों में गिरकर उसने प्रार्थना की – "मेरी आधी उमर विषयों के भोग में ही बीत गयी। अब जो बची है, वह भी वैसे ही न बीत जाय। इन्द्रियों के कारण मेरी बड़ी हँसी हुई। कहीं अब भी न हो! मन में काम-क्रोध आदि बड़े बड़े खल रहते हैं। कहीं अब भी वे न रह जायँ। महाराज! अब मुझे भगवान के चरणों में ही रखिये। काशी से मत हटाइये! गोस्वामी जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बड़ी प्रसन्नता से कहा – "तुम हमेशा यहीं रहो और भगवान का गुण-गान करो!"

गोस्वामी जी के पास चन्द्र नामक एक हत्यारा ब्राह्मण आया। वह दूर खड़ा होकर 'राम' 'राम' कहने लगा। अपने इष्टदेव का नाम सुनकर तुलसीदास जी आनन्दमग्न हो गये और पास जाकर उसे हृदय से लगा लिया, आदर से भोजन कराया और बड़ी प्रसन्नता से कहा –

तुलसी जाके बदन ते, धोखेहुँ निकसत राम।
ताके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम॥

बात-की-बात में यह बात सारे नगर में फैल गयी। संध्या होते होते बड़े बड़े ज्ञानी, ध्यानी तथा विद्वान् इकट्ठे हो गये। उन लोगों ने गोस्वामी जी से पूछा, "यह हत्यारा कैसे शुद्ध हो गया!" गोस्वामी जी ने कहा – "वेदों-पुराणों में, नाम-महिमा लिखी है, उसे पढ़कर देख लीजिये।" उन लोगों ने कहा – "लिखा तो है, परन्तु हमें विश्वास नहीं होता। आप कोई ऐसा उपाय करें, जिससे हमें विश्वास हो।" गोस्वामी जी ने उसके हाथों से भगवान शिव के नन्दी को भोजन कराया, जिसे देख सबको विश्वास हो गया। चारों ओर जय-जय की ध्वनि होने लगी। निन्दकों ने गोस्वामी जी के पैरों पर पड़कर क्षमा माँगी।

वह ब्राह्मण दिन भर गोस्वामी जी के स्थान पर बैठकर लोभवश 'राम' 'राम' रटता। संध्या के समय हनुमानजी उसे धन दे देते। उसने भगवान राम के दर्शन के लिये बड़ा हठ किया। गोस्वामी जी ने कहा – "पेड़ पर चढ़कर त्रिशूल पर कूद पड़ो। भगवान के दर्शन हो जायेंगे।" वह त्रिशूल गाड़कर वृक्ष पर चढ़ा, पर कूदने की हिम्मत नहीं पड़ी। उतर आया। एक पछाही घुड़सवार उधर से जा रहा था, उसने सब बातें पूछ लीं और पेड़ पर चढ़कर त्रिशूल पर कूद पड़ा। उसे भगवान के दर्शन हो गये। हनुमान जी ने तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया।

गोस्वामी जी का अन्तिम समय आ गया। उन्होंने अपनी दशा देखकर लोगों से कहा, "श्री रामचन्द्र जी के चरित्र का वर्णन करके अब मैं मौन होना चाहता हूँ। आप लोग तुलसीदास के मुख में अब तुलसी डालें।" संवत् १६८० (१६२३ ई.) के श्रावण कृष्ण तृतीया, शनिवार को गंगातट के अस्सी घाट पर गोस्वामी जी ने 'राम' 'राम' कहते हुए अपने शरीर का परित्याग किया।

गोस्वामी जी अमर हैं, वे अब भी श्री राम-चरित-मानस के रूप में लोगों के बीच में विराजमान हैं। इस प्रकार वे अनन्त काल तक हम लोगों में ही रहकर हम लोगों का कल्याण करेंगे। भक्त भगवान से पृथक् नहीं होते। भक्त ही भगवान के मूर्त स्वरूप हैं, वे कृपा करके हमारे हृदय को शुद्ध करें और भगवान के चरणों में निष्कपट प्रेम दें। ❑❑❑

मृत्यु और पुनर्जन्म

यदि कच्ची मिट्टी की हंडी फूट जाय, तो कुम्हार उससे फिर नई हंडी बनाता है, पर पकी हुई हंडी के फूट जाने पर ऐसा नहीं हो सकता। वैसे ही अज्ञान-अवस्था में मृत्यु होने से मनुष्य को फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु ज्ञानाग्नि में अच्छी तरह पक जाने के बाद यदि मृत्यु हो तो उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

मृत्यु के समय व्यक्ति जो कुछ सोचता है, उसी के अनुसार उसका पुनर्जन्म होता है; अत: साधना की बड़ी जरूरत है। निरन्तर अभ्यास करते हुए जब मन हर तरह की सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है, तो उसमें सर्वदा ईश्वर का ही चिन्तन होने लगता है और वह मृत्यु के समय भी वह नहीं छूटता।

— *श्रीरामकृष्ण*

एक संन्यासी की भ्रमण-गाथा (१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी माँश्री सारदा देवी के मंत्रशिष्य थे और उन्हें स्वामी ब्रह्मानन्द जी से संन्यास-दीक्षा प्राप्त हुई थी। 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' शीर्षक के साथ अपनी भ्रमण-गाथा लिखी थी, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। अत्यन्त रोचक तथा उपयोगी प्रतीत होने के कारण 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के हितार्थ इसे धारावाहिक रूप से पुनर्मुद्रित किया जा रहा है। – सं.)

नर्मदा-तट पर काष्ठ-मौनव्रत

परिव्राजक जीवन का आस्वादन करने की तीव्र इच्छा एक समय संन्यासी को भारत भर में नाना प्रदेशों तथा तीर्थस्थलों में खींच ले गयी थी। इससे बहुत प्रकार यानी तरह तरह के अनुभव हुए थे, जो काफी शिक्षाप्रद थे अर्थात् उससे संन्यासी ने बहुत कुछ सीखा था। उनमें से कुछ 'मानवता की झाँकी' शीर्षक लेखों में आये हैं, अब अन्य प्रकार की बातें प्रस्तुत की जा रही हैं, जो रोचक तथा शिक्षाप्रद भी हैं।

परिव्राजक संन्यासी नर्मदा नदी के पवित्र तट पर परिभ्रमण कर रहा था। होसंगाबाद से शुरुआत कर भरुच (भृगुकच्छ) आ गया था। यहाँ संन्यासी ने दो महीने के लिये एक व्रत लिया जिसे 'काष्ठ-मौनव्रत' कहते हैं। यह बड़ा कठिन व्रत है, क्योंकि केवल मौन में तो संकेत से या लिखकर भी बताया जाता है, परन्तु काष्ठ-मौनव्रत में तो आँख से इशारा करना भी मना है। इसमें ठूँठ के समान निश्चेष्ट रहना पड़ता है। (संन्यासी ने) मन में ऐसा सोचकर यह व्रत लिया कि लोगों से किसी प्रकार की बातें न करने से विक्षेप होने की सम्भावना कम होगी और वह पवित्र नर्मदा-तट पर स्वात्मभाव में सानन्द विहार कर सकेगा। इसमें जोखिम तो बहुत था, क्योंकि यदि कोई आहार न दे तो भूखा ही रहना होगा, ठहरने को स्थान न दे तो कहीं भी पड़े रहना होगा; बिना पानी, बिना अन्न, केवल अत्यधिक कष्ट ही नहीं, अपितु मृत्यु तक हो सकती है, पर संकल्प कर लिया कि जो अब हरि करें सो होई – उनकी इच्छा पूर्ण हो।

भरुच से नीचे नदी की ओर आठ मील पर एक छोटा-सा कस्बा है – सुन्दर स्थल, नदी किनारे एक विशाल अस्वत्थ – पीपल का वृक्ष और साथ में शिव-मन्दिर। पीपल के नीचे घेरकर बना हुआ सीमेंट का स्वच्छ चबूतरा ! मनोरम दृश्य ! संन्यासी उस पर जा बैठा। वह तीर्थघाट था, अत: बहुत-से लोग नहा-धोकर मन्दिर में दर्शन करने के लिये आते थे। दोपहर हो चुकी थी और भूख भी लग आयी थी। लोग आये गये, माताओं ने आकर पीपल में पानी डाला, देखा और अपने मार्ग पर चल दीं। ... अपराह्न के कोई तीन बजे होंगे, एक सज्जन आये, देव-दर्शन किया और 'नमो नारायण' कहकर पूछा, "कब आये, भिक्षा हो गयी है क्या?" पर उत्तर कौन दे? फिर कुछ विचारकर वह पुजारी के पास गया, उसे साथ ले आया और सामने ही पूछा, "संन्यासी कब आया है और भिक्षा हो गयी है या नहीं? उसने कहा, "आया तो सुबह है, पर कुछ माँगा नहीं, इसलिये पता नहीं खाया है या नहीं।" – "अच्छा, रोटी है क्या?" – "जी, हाँ" – "तो जाओ, एक थाली में रोटी और दाल ले आओ।" दाल-रोटी लाकर सामने रख दी, तो संन्यासी खा गया। भूख तो खूब ही लगी थी। बस, उस रोज से समय पर दाल-रोटी या सब्जी-रोटी जो होता, उसे पुजारी सामने लाकर रख देता।

इससे आहार तो आराम से मिलने लगा, पर दिन भर, और कभी कभी तो रात बारह-एक बजे तक गाँव के ५-१० जनों की टोली पास ही बैठकर गुल-गपोड़ा, कदाचित् धर्मचर्चा करती और तम्बाकू फूँकती रहती। संन्यासी न तो उन्हें मना कर सकता था, न वे समझने ही वाले थे। अब क्या करना? विक्षेप पैदा होने से मन में अशान्ति होने लगी। तब एक रोज घूमते-फिरते संन्यासी ने करीब दो मील दूर (नदी की ओर) एकदम एकान्त स्थल देखा। वहाँ एक विशाल बड़ का पेड़ था और पास में टूटे-फूटे दो-तीन छोटे-मोटे मन्दिर भी थे। एक कुँआ भी था। कुएँ का पानी कैसा है, यह जानने के लिये कमण्डलु में रस्सी बाँधकर पानी निकालकर देखा, तो बहुत खारा लगा। इतने में उसी खण्डहर के बीच में से एक वृद्ध वैष्णव निकला और कहने लगा – "यह पानी बहुत खारा है, गरम करके पीना पड़ता है, चाय पीना हो तो इधर आ जाओ।" ... संन्यासी ने साथ में जाकर देखा कि वह उस खण्डहर के बीच एक छोटी-सी आधी टूटी कोठरी में रहता था। चाय तैयार करते करते वह बहुत-सी बातें कहने लगा। अन्त में बोला – "इधर आओ, मैं तुम्हारी सेवा करूँगा, गाँव से माँगकर लाऊँगा, अच्छा रहेगा। एकान्त का मजा लेना हो तो इधर चले आओ।" संन्यासी ने मौन सम्मति दी और दूसरे ही दिन शाम को चुपचाप आ गया। विशाल बड़ के नीचे आसन रखा। चौतरफा मैदान, जरा फासले पर नर्मदा नदी। यहाँ नर्मदा विशालकाय – डेढ़-दो मील चौड़ी थीं, परन्तु पानी मटमैला और नमकीन था, इसलिये पीने के काम नहीं आता। नजदीक में कोई गाँव नहीं, दूरी पर स्थित होने से लोगों का कोई खास आना-जाना नहीं था। संन्यासी को यह स्थान बड़ा पसन्द आया। संध्या के बाद तो बिल्कुल सूनसान, केवल नर्मदा में जब ज्वार आता था, तब दरियाई हवा जोरों से चलने

लगती, उससे रेत भी खूब उड़ती और आवाज से एक प्रकार की उदासीनता का बोध होता। आनन्द ! आनन्द ! तरुतल वास होने लगा। वे वृद्ध वैष्णव समय पर यानी करीब दो बजे रोटियाँ और सुबह-शाम दूध की चाय भी बनाकर दे जाते। ... एक दिन उन्होंने लड्डू और फिर एक दिन खीर-पूड़ी खिलाये। वे रोटी-दाल में खूब घी डालते। संन्यासी सोचने लगा – ये रहते तो खण्डर में हैं, तो फिर इतना सब आता कहाँ से है? ... चौथे या पाँचवें दिन इसका भेद खुल गया। संन्यासी रोज तीन-चार बजे शाम को जरा घूमने चला जाता था। वृद्ध ने कहा – आज कहीं दूर मत जाना, नजदीक गाँव के जागीरदार मिलने के लिये आनेवाले हैं, जबसे इन लोगों ने मुझसे सुना है कि आप इधर ठहरे हैं, वे ही रोज दूध-घी-चावल आदि भिक्षा में दिया करते हैं। ... अब उस वृद्ध ने जागीरदार से क्या कहा था सो तो पता नहीं, पर जब जागीरदार सहमण्डली चार-पाँच गाड़ी भर के आये। उस मण्डली में उनके घर की स्त्रियाँ भी थीं और सभी बड़ी नम्रता के साथ दण्डवत प्रणाम करके बैठ गये। उन लोगों ने कहा – "हमारा परम सौभाग्य है कि आप इधर आये हुए हैं। यहीं रहिये। वर्षा आने पर छप्पर बँधवा दूँगा, आपको कोई कष्ट नहीं होगा। मैं प्रतिदिन आपके लिये घी-दूध-चाय-आटा-चावल आदि रसोई की सामग्री देता हूँ, यह आपको अच्छी रसोई परोसता है न? (वृद्ध से) जो भी लगे ले आना, खबरदार ! जरा भी कष्ट नहीं देना। संन्यासी तो स्थाणुवत् बैठे सुनता रहा। शाम को सब वापस चले गये।

दूसरे दिन सुबह ९-१० बजे, फिर पाँच-सात गाड़ी भरकर बहुत-से स्त्री-पुरुष हाजिर हुए। उन लोगों ने उस बड़ के नीचे संन्यासी के पास ही अड्डा जमाया और उससे बातें करने की चेष्टा शुरू की। उसमें असफल होने के बाद आपस में देश-परदेश के साधु-सन्तों तथा योगियों की बातें आरम्भ कर दी। फिर वहीं रसोई बनाने लगे और संन्यासी को निमंत्रण दिया। उस वृद्ध ने भी खाया। दिन भर रहकर शाम को सब लौट गये। तीसरे दिन फिर आसपास के गाँवों से बहुत-से लोग गाड़े भर-भरकर आये और दिन भर वहीं रहकर खा-पीकर गये। चौथे रोज भी वही बात! अब क्या करना? संन्यासी ने समझा कि यह वृद्ध और वह जागीरदार सभी जगह शायद, "बड़े भारी मौनी योगिराज आये हुए हैं" आदि कहकर प्रचार कर रहे हैं, इसलिये यह आफत है ! बस, यहाँ से चुपचाप हट जाना ही ठीक रहेगा, मौनव्रत के अभी तो बहुत दिन बाकी हैं। शान्ति की जगह यहाँ विक्षेप ही हो रहा है। एक दिन मौका देखकर वहाँ से चुपचाप अरब-सागर की ओर चल दिया। ... उस वृक्ष के नीचे वीरान भूमि में हिंस्र जीव-जन्तुओं से किसने रक्षा की थी? जय भगवान !

नर्मदा के किनारे किनारे चलते चलते दोपहर का समय हो गया, मगर कोई भी गाँव या बस्ती न मिलने से संन्यासी हैरान था। कड़ी धूप से बेचैनी होने लगी, तो नर्मदा में स्नानकर शरीर ठण्डा करने के विचार से वह कौपीन मात्र धारण किये उस जनशून्य स्थल में नदी में उतरा। परन्तु बहुत दूर तक जाने पर भी उसे घुटने भर भी पानी नहीं मिला। और भी कुछ दूर जाने पर पानी तो घुटने भर मिला, पर वह कीचड़ से परिपूर्ण था। वह जैसे ही बैठने लगा कि दोनों पैर लगभग घुटने तक कीचड़ में घुस गये। वहाँ दलदल थी। खींचकर बाहर निकलने का प्रयत्न किया तो और भी अधिक फँस गये। बस, अब क्या करना था ! निर्जन स्थान, आसपास कोई गाँव नहीं और वह आने-जाने का मार्ग भी नहीं था कि कोई देखकर मदद करने को आता। इसके अतिरिक्त काष्ठ-मौनव्रत भी तो ले रखा था। ... परमेश्वर की यही मर्जी होगी ! पवित्र नर्मदा में शरीर रह जायेगा, जय भगवान ! ...

इतने में गम्भीर 'गों' 'गों' की आवाज आने लगी। सोचा कि कोई जहाज आ रहा है। वह आवाज और भी तेज और भयानक ध्वनि में परिणत हुई। तब देखा कि पहाड़ जैसी ऊँची लाल रंग के पानी की उत्ताल तरंग, भीषण वेग से चली आ रही है। अरे यह तो ज्वार है, सर्वनाश ! इससे तो कोई बच नहीं सकता। इसकी चोट इतनी प्रचण्ड होती है कि बड़ी बड़ी नावें तथा छोटे-मोटे स्टीमर तक डूब जाते हैं; सँभाल न सके तो टूट भी जाते हैं। ... खैर जैसी उनकी मर्जी, मृत्यु निश्चित है। जय भगवान ! संन्यासी आँखें बन्दकर मृत्यु के आलिंगन की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। पानी उछलता-कूदता बड़े विशाल तरंग के रूप में आया और 'ओम्' मारा जोर से धक्का – धड़ास् ! फँसे हुए पैर बाहर निकल गये और संन्यासी को मछली के समान निकालकर बहुत दूर फेंक दिया, इसके बाद फिर तट-भूमि की ओर धक्का मारा, फिर मारा – और बिल्कुल किनारे पर ला छोड़ा। ... संन्यासी उठ खड़ा हुआ और किनारे जा बैठा। ... अभी प्रारब्ध-भोग बाकी है। नर्मदा ने नहीं लिया। परमेश्वर की इच्छा। उनकी लीला कौन समझ सकता है ! जय भगवान ! तेरी इच्छा पूर्ण हो। ॐ।

कोई आधे मील चलने पर एक शिव-मन्दिर तथा आश्रय मिला। रात वहाँ ही ठहर गया। पुजारी गोसाई ने खाने को दिया। दूसरे दिन चला और दोपहर को नर्मदा तट के पास एक शिव मन्दिर में ठहरा। चारों ओर जंगल था। कुँआ भी था। पानी कुछ ठीक था, वैसे खारापन तो उसमें भी काफी था। स्थल मनोरम तथा आकर्षक था। यह गाँव नर्मदा तट के छोर पर था, आगे अरब-समुद्र लहरा रहा था। गाँव का नाम हरिपुरा या वैसा ही कुछ था। ...

मन्दिर के पास तिकोनी दीवार पर छप्पर बड़ा था। संन्यासी उसी में ठहरा। उसमें दरवाजे आदि न होने से उन्मुक्त दृश्यावली के दर्शन होते थे। एक छोटी-सी धूनी जला ली, रात में इसकी विशेष जरूरत पड़ती है, क्योंकि उस जंगल में हिंस्र

जन्तुओं का निवास था। आसन जमाकर बैठा ही था कि इतने में एक व्यक्ति गौएँ लेकर उधर आया, मन्दिर का द्वार खोला, अन्दर जाकर पूजा की और बाहर आया। संस्कारी आदमी प्रतीत हुआ, 'नमो नारायण' कहकर प्रणाम किया और शंकरजी को अर्पित किया हुआ प्रसाद – मूँगफली तथा कुछ खजूर सामने रख दिये। संन्यासी भूखा तो था ही, वही खाकर भूख की निवृत्ति की। किसान पटेल ने पूछताछ तो की, परन्तु जबाब भला कौन देता? ...

रात में संन्यासी ने बड़े आनन्द का अनुभव किया। और कोई नहीं था। दूर कोई जानवर बोला, हिरन डर के मारे झुण्ड-के-झुण्ड दौड़ते हुए धूनी के उजाले में आ खड़े हुए। आग के पास हिंस्र जन्तु नहीं आते और आदमी है, सहारा है, उधर कोई उन्हें मारता नहीं, इसलिये भरोसा है। पहली रात आनन्द और शान्ति से निकल गयी। दूसरे दिन कोई पुजारी तो आया नहीं, वही किसान आया और चाबी खोलकर तथा मूँगफली तथा खजूर का भोग लगाकर संन्यासी को पहले दिन की तरह ही प्रसाद दिया। संन्यासी ने वही खाया। दिन भर और कोई आया नहीं, ठीक शान्ति रही। तीसरे दिन भी खाने को वही मिला, पर उस दिन की मूँगफलियाँ कच्ची थीं, अग्नि में सेंककर खायी गयीं। परन्तु दो दिन तो खजूर के साथ वे कच्ची ही खायी गयी थीं, अत: पेट दुखने लगा। पेचिश की बीमारी हो गयी। पानी भी तो खारा ही था। दस्त होने लगे। पर खाने को तो वही मिला। ... चौथे दिन भी वही किसान आया और खाने को पूर्ववत् वही प्रसाद भक्तिपूर्वक दिया। पेचिश की बीमारी हो जाने के कारण संन्यासी डर-डरकर ही खा रहा था। इतने में बड़ौदा के कोई स्टेट-अफसर (बाद में पता चला कि तहसीलदार थे) दो-चार लोगों के साथ शिव-दर्शन के लिये वहाँ आये। पूजा के बाद वे संन्यासी के पास आये और कुशल-क्षेम पूछा। इतने में वह किसान भी हाजिर हो गया। उसी ने कहा, "ये मौनी हैं, बोलते नहीं। गाँव में भी नहीं जाते, चार दिन से इधर ही ठहरे हैं।" ... अफसर ने पूछा, "तो भिक्षा के लिये क्या करते हैं?" किसान ने कहा, "मैं हर रोज केवल मूँगफलियाँ और खजूर का प्रसाद देता हूँ, उसी को खाते हैं।"

"क्यों, पुजारी ने कोई व्यवस्था नहीं की?"

"पुजारी तो आता ही नहीं है, दोपहर के बाद मैं ही आकर पूजा करता हूँ।"

इतने में पुजारी भी दौड़ता हुआ आ पहुँचा। उसे किसी ने बताया होगा कि तहसीलदार साहब दर्शन के लिये आये हुए हैं। उसके आते ही अफसर ने खूब धमकाया, "क्यों, स्वयं पूजा न करके पटेल से पूजा करवाता है और वह भी सुबह नहीं, दोपहर के बाद? आये हुए सन्तों की सेवा भी नहीं करता" स्टेट की ओर से जो जागीर है, उसे क्यों न जब्त करके तुम्हें पुजारी पद से हटा दिया जाय?" आदि आदि। वह बीमारी की लाचारी बताते हुए हाथ जोड़कर माफी माँगने लगा। अफसर ने आइन्दा ऐसा न करने को और सुबह-शाम नियमित रूप से पूजा-आरती, भोगादि लगाने का हुक्म देकर कहा – जाओ, अभी खीचड़ी-घी, मिर्च-मशाले और रसोई पकाने के पात्र, कुछ आलू वगैरह ले आओ। वह घरबारी गोसाईं था, दौड़ पड़ा। अफसर ने किसान से कहा, "तू रोज आकर देखना कि सामान है या नहीं; खाली होने पर तत्काल उसके पास से लाकर भर देना ! तूने अच्छा काम किया। मैं बहुत खुश हुआ हूँ, नहीं तो ये भूखे ही रहते और कष्ट पाते।" ... फिर वे संन्यासी को नमस्कार करके चले गये।

बस, अच्छी व्यवस्था हो गयी। ईश्वर के अनुग्रह से जो भी आवश्यक था सो मिला। संन्यासी निश्चिन्त होकर व्रत के आखिरी दिन तक वहीं ठहरा। व्रत पूरा होने के बाद ही वह वहाँ से दहेज-बन्दर – श्रीराणा के आमंत्रण से जाकर फिर नाव में काठियावाड़ (गुजरात) के घोघा-भावनगर बन्दरगाह गया था। ... परन्तु वहाँ जो पेचिश की बीमारी हुई थी, वह कभी अधिक तो कभी कम, पर पूरे दस महीने तक कायम रही। बाद में आराम तो हो गया, परन्तु आँतों में जो दोष हुआ था सो गया ही नहीं, चिरकाल के लिए साथी-सा हो गया।

उस हरिपुर में बड़ा आनन्द रहा – अन्य किसी प्रकार का विक्षेप नहीं था। काष्ठ-मौनव्रत के पालन में वह स्थान सबसे उत्तम निकला था। ईश्वरानुग्रह के बिना व्रत-पालन निर्विघ्न पूरा नहीं हो सकता। ऐसा अनुभव हुआ कि मौन साधना में सहायक न होकर खासा विघ्न रूप भी बन सकता है।

परन्तु निश्चित मौत के मुख आश्चर्यजनक उपायों द्वारा उबारनेवाला कौन था? जय भगवान ! ❖ (क्रमशः) ❖

ईश्वर का ज्ञान

उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जान लेने पर तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है, परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' के कारण ही शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक' और उसके बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत्।

— *श्रीरामकृष्ण*

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

३२. प्रश्न – *क्या आप भूत-प्रेत में विश्वास करते हैं? आखिर ये क्या होते हैं?*

उत्तर – हाँ, हमें भूत-प्रेतों में विश्वास है, पर आम लोगों जैसा नहीं। उसे जीव की एक योनि कह सकते हैं। विभिन्न योनियाँ मन के विभिन्न स्पन्दनों का परिणाम हैं। जैसे यह स्थूल देह मन के एक विशेष स्पन्दन के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, वैसे ही सूक्ष्म देह या प्रेत-योनि भी मन के ही विशेष स्पन्दन का फल है। यहाँ इस पर विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं।

३३. प्रश्न – *धन ही समस्त बुराइयों की जड़ है। अत: उसे पाप के फलस्वरूप मिला कहें या पुण्य के फलस्वरूप?*

उत्तर – बड़ा अच्छा प्रश्न है। मेरा व्यक्तिगत मत यह है कि धन पाप के फलस्वरूप मिलता है। धन मिलने का अर्थ है अतिरिक्त धन होना। इस श्रेणी में ईमानदारी से कमाया धन नहीं आता। ईमानदारी से व्यक्ति इतना नहीं कमा सकता कि वह दो-तीन पीढ़ियों तक चले। मेरी मान्यता है कि जहाँ भी हमें धन का वैभव देखने को मिलता है, वह पाप के ही फलस्वरूप है। अत: ऐसा धनी व्यक्ति तरह तरह की बुराइयों का शिकार हो जाता है। वे लोग अत्यन्त बिरले हैं, जो धनी होने के साथ ही विवेकी भी हैं। यह भगवान की उन पर कृपा है। वे अपवाद हैं।

३४. प्रश्न – *मैं स्वामी विवेकानन्द की पुस्तक 'राजयोग' से बड़ा प्रभावित हूँ। क्या उस ग्रन्थ के सहारे राजयोग की साधना का अभ्यास नहीं किया जा सकता?*

उत्तर – पुस्तक के आधार पर राजयोग की साधना ठीक नहीं। स्वामीजी कृत 'राजयोग' की भूमिका आपने पढ़ी होगी, उसमें उन्होंने स्वयं चेतावनी दी है कि बिना योग्य पथ-प्रदर्शक के राजयोग की साधना खतरे से खाली नहीं है। उक्त साधना में ऐसी सूक्ष्मताएँ हैं, जो बिना गुरु के समझ में नहीं आतीं।

३५. प्रश्न – *पुराणों में वर्णित कथाएँ क्या सत्य घटनाओं पर आधारित हैं?*

उत्तर – पुराणों को ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में नहीं लिया जा सकता। उनमें की अधिकाँश कथाएँ मनगढ़न्त हैं। भले ही पुराणों में वर्णित कुछ घटनाएँ ऐतिहासिक हों, पर कल्पना और इतिहास का ऐसा मेल उनमें हुआ है कि दोनों को अलग करना बड़ा कठिन काम है। पुराण-युग में रूपकों के सहारे तत्त्व को समझाने की प्रथा प्रचलित थी। इसीलिए हम पुराणों में कई सुन्दर रूपक पाते हैं।

३६. प्रश्न – *क्या वेदान्त अवतार को मानता है?*

उत्तर – नहीं, अवतार की कल्पना भक्तिमार्ग की देन है।

३७. प्रश्न – *ध्यान का अर्थ क्या है? उससे क्या लाभ है? ध्यान का कोई सरल उपाय?*

उत्तर – ध्यान किसी वस्तु पर किया जाता है। उसका अर्थ है – जिस पर ध्यान किया जा रहा है उस ध्येय वस्तु को छोड़कर मन को और कहीं भी न जाने देना। मन चंचल स्वभाव का है और एक स्थान पर नहीं ठहरता। जिस बात में उसे विशेष रुचि है, वहाँ वह अधिक रमता है। इसे भी ध्यान कहते हैं, पर जब साधना और आध्यात्मिक दृष्टि से हम 'ध्यान' पर विचार करते हैं तो ध्यान भोग-विषयों का न होकर आध्यात्मिक सत्यों या व्यक्तियों का होता है। भोग-विषयों का ध्यान मन को अधिकाधिक चंचल बनाता है, जिसके फल-स्वरूप उसकी अन्तर्भेदन की शक्ति क्रमश: कम होती जाती है। परन्तु आध्यात्मिक भावों का ध्यान मन की बहिर्मुखता को रोककर उसे अधिकाधिक एकाग्र बनाता है, जिससे मन अलौकिक राज्य में घुसने की क्षमता प्राप्त करता है।

इस पर से ध्यान के लाभ समझ लीजिए। जिसका मन चंचल है, उसका व्यक्तित्व अगठित है, वह जीवन के संघर्षों को ठीक ठीक झेलने में समर्थ नहीं होता। जीवन की छोटी छोटी घटनाएँ उसे परेशान करती हैं। उसका मानसिक तनाव बढ़ता जाता है। ठीक ठीक ध्यान के फलस्वरूप मन में विवेचन-शक्ति पैदा होती है और वह वस्तुओं के स्वरूप को ग्रहण करने में क्रमश: समर्थ होता है। वैज्ञानिक जब बाहर के सत्यों पर ध्यान करता है, तो भौतिक सत्य अपने आवरण को ठेलकर प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार, जब साधक भीतर के सत्यों पर ध्यान करता है, तो ये सत्य भी अपने अवगुण्ठन को त्यागकर, अस्पष्टता की छाया को दूरकर साधक के सामने उजागर हो जाते हैं। ध्यान मनुष्य के व्यक्तित्व को संगठित करता है और जीवन के आघातों का सामना करने की शक्ति देता है। वह बुद्धि को संतुलित करता है और अपने चरम

लक्ष्य के रूप में जीवन के रहस्य खोल देता है।

ध्यान का कोई भी उपाय सरल नहीं है। सभी उपायों में मन के साथ मानो युद्ध करना पड़ता है। तथापि एक उपाय इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है –

सुखासन में शान्त, स्थिर होकर बैठ जाय और साक्षी बनकर मन में उठनेवाले विचारों को देखता रहे। मन जब विचारों के प्रवाह में बह जाय, तो ख्याल आने पर उसे पुन: विचारों का दर्शक बना दे। यह अभ्यास निरन्तर करता रहे। मानो मन के दो भाग हो गये – एक साक्षी और दूसरा, इधर-उधर भागनेवाला। साक्षी-मन को उसके साक्षीपन से न टलने दे। इसमें कई बार असफलता हाथ लगेगी, पर अध्यवसाय-पूर्वक अभ्यास करता रहे। नियम और निष्ठा के साथ प्रतिदिन यदि आधा घण्टा यह अभ्यास किया जाये तो छ: महीने में ही अभ्यासी को अपने मन में कुछ परिवर्तन अवश्य दिखाई देता है, जो उसकी प्रगति की सूचना है।

३८. प्रश्न – *मैंने एक बड़े प्रसिद्ध योगी से ध्यान की विधि सीखी और उनके पास १५ दिन तक रहा। उस समय सचमुच मुझे मालूम पड़ने लगा कि उन्नति बड़ी द्रुत है। उसके बाद अपने स्थान लौट आने पर धीरे धीरे उन्नति का क्रम मन्द होने लगा। सोचने लगा कि योगीजी के सान्निध्य के कारण ही मुझमें इस प्रकार की प्रगति हुई थी। अत: लगभग ८ महीने बाद पुन: उनके पास जाकर रहा और एक महीने तक। पर प्रारम्भ में जो शान्ति और आनन्द मुझे मिलता था, वह न मिल पाया ऐसा क्यों? मेरे इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर योगीजी भी न दे सके। आप कुछ बता सकेंगे? आगे कैसे बढ़ूँ?*

उत्तर – जो बात नयी है और पहली बार मालूम होती है, उसका आकर्षण विशेष होता है। मन का उसके साथ विशेष लगाव हो जाता है। आपने ध्यान के सम्बन्ध में एक नयी बात सीखी। उस नवीनता ने आपके मन को आकर्षित किया और आपको एक नये तरह के आनन्द का बोध हुआ। यह योगीजी के सान्निध्य का फल नहीं, बल्कि नवीनता का आकर्षण था। मन में सर्वदा नवीनता की चाह होती है। यह तो साधारण-सी बात है कि किसी भी नये परिवेश में मन विशेष रूप से प्रभावित हो जाता है। उदाहरणार्थ, कोई अच्छा दृश्य देखा और आपको बड़ा अच्छा लग गया। आप सोचने लगे कि यदि यहीं ७-८ दिन भी बिता दिये जाएँ तो बड़ा अच्छा है। आप २ दिन भी नहीं बिता पाते कि आकर्षण कम होने लगता है और आप वहाँ से चल देना चाहते हैं। यह मन का स्वभाव है। मनुष्य यदि इसे जान ले तो वह अपने को बड़े बड़े मानसिक दु:खों से बचा ले सकता है।

कुछ दिनों पूर्व एक मित्र ने मुझसे कहा कि बीटल्स और बीटनिक्स निरुत्साहित होकर भारत से चले गये; वे योग सीखना चाहते थे, परन्तु उनकी आशाएँ धूमिल हो गयी। मैंने कहा – यह तो होना ही था। उन्हें योग के रूप में एक नया आकर्षण मिला था। मन उधर झुका और झुकता गया। पर कब तक? मन के संस्कार कब तक दबे रह सकते हैं? नवीनता का आकर्षण भला कब तक हमारी दृढ़मूल प्रवृत्तियों को दबाकर रख सकता है? यही बीटल्स के साथ भी हुआ। अब उन्हें कभी-भी और कहीं-भी वह आनन्द नहीं मिलेगा, जो पहली बार ध्यान के अभ्यास से मिला था। हो सकता है, वे किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाएँ और उसकी पद्धति में नवीनता देखें। पर वह नवीनता भी अधिक समय के लिए उन्हें बाँधकर नहीं रख सकेगी।

तात्पर्य यह है कि नवीनता का मोह छोड़ना होगा। आध्यात्मिकता के रास्ते पर आगे बढ़ने के लिए कोई 'शॉर्ट कट' (नजदीक का रास्ता) नहीं है। उसके लिए पूरा प्रयास करना पड़ता है। उसकी पूरी कीमत चुकानी पड़ती है। निष्ठा के साथ लगे रहना पड़ता है। मन तो बार बार उचाट होगा, उसे अरुचि होगी, पर उसे पुचकारकर, समझा-बुझाकर साधना में लगाए रखना होगा। अध्यवसायपूर्वक लगे रहने पर अवश्य भगवान की कृपा होगी और मन में धीरे धीरे ध्यान और साधना के लिए रुचि उत्पन्न होने लगेगी। जब तक रुचि पैदा न हो जाए, तब तक मन के विरुद्ध लड़ाई ठाननी पड़ेगी। समय और स्थान निश्चित करके निर्दिष्ट प्रणाली के द्वारा साधना के क्रम को उसी प्रकार अटूट बनाने का प्रयास करना पड़ेगा। जैसे खाने-पीने और सोने के क्रम को अटूट रखते हैं। यही आगे बढ़ने का रास्ता है।

३९. प्रश्न – *मैं कभी कभी अचानक ही अकारण उदास हो जाता हूँ और मुझे निराशा घेर लेती है। मुझे इससे बचने के लिए क्या करना चाहिए?*

उत्तर – आपकी उदासी के पीछे अवश्य कोई कारण होगा। जरा मन को गहराई से टटोलें। देखेंगे कि पहले अवश्य ऐसी कोई घटना हुई है, जो मन के प्रतिकूल थी। ऐसी घटनाएँ कभी कभी हमारी उदासी का कारण बनती हैं। आपको चाहिए कि आप बलपूर्वक यादों से बचने की कोशिश करें। जब भी ऐसी स्मृति उभड़े, आप तुरन्त अपने को किसी काम में लगा लें या परिवारवालों के साथ जाकर बैठ जाएँ या अन्य परिचितों से वार्तालाप करने लगें। साथ ही, किसी अच्छे कार्य के साथ अपने को युक्त कर लें और इस प्रकार स्वयं को सत्कार्यों में, सद्ग्रन्थों के अध्ययन में और सत्पुरुषों के संग में व्यस्त रखें। मन राजी न हो, तो भी बलपूर्वक करें। इससे क्रमश: मन का विरोध समाप्त होगा और इन बातों के प्रति मन में रुचि पैदा होगी। फलस्वरूप, उदासी और निराशा के भाव धीरे धीरे कम होकर एक दिन बिल्कुल खत्म हो जायेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖

वेदान्त-सार (७)

आत्मा के सच्चे स्वरूप की स्थापना

एतेषां पुत्र-आदीनाम् अनात्मत्वम् उच्यते ।।१३२।।

– अब इन पुत्र (से शून्य तक) आदि की अनात्मता बतायी जाती है।

एतैः अतिप्राकृतादि-वादिभिः उक्तेषु श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासेषु पूर्वपूर्वोक्त-श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासानाम् उत्तरोत्तर-श्रुति-युक्ति-अनुभवाभासैः आत्मत्व-बाध-दर्शनात् पुत्रादीनाम् अनात्मत्वं स्पष्टम् एव ।।१३३।।

– चूँकि अति-प्राकृत आदि (अत्यन्त स्थूलबुद्धिवालों से लेकर बौद्धों तक) सभी वादियों द्वारा कही गयी आभास-रूप श्रुति, युक्ति तथा अनुभूतियों में से, उत्तरोत्तर कही गयी आभास-रूप श्रुति, युक्ति तथा अनुभूतियों के द्वारा (उनके) पूर्व कही गयी आभास-रूप श्रुति, युक्ति तथा अनुभूतियों की आत्मता बाधित हो जाती है, अतः पुत्रादि की अनात्मता स्पष्ट ही है।

किञ्च प्रत्यक् अस्थूलः अचक्षुः अप्राणः अमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सत् इत्यादि-प्रबल-श्रुतिविरोधात् अस्य पुत्रादि-शून्य-पर्यन्तस्य जडस्य चैतन्य-भास्यत्वेन घटादि-वत् अनित्यत्वात् अहं ब्रह्म इति विद्वद्-अनुभव-प्राबल्यात् च तत्तत्-श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासानां बाधितत्वात् अपि पुत्रादि-शून्य-पर्यन्तम् अखिलम् अनात्मा एव ।।१३४।।

– इसके अतिरिक्त (आत्मा के) अन्तःस्थ, अस्थूल, अचक्षु, अप्राण, अमना, अकर्ता, चिन्मात्र और सत्स्वरूप आदि का निरूपण करनेवाली प्रबल श्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण, तथा (द्वितीयतः) इन पुत्र आदि से लेकर शून्य तक के जड़ वर्ग, चैतन्य द्वारा प्रकाशनीयता होने से घटादि की तरह अनित्य होने (की युक्ति) और (अन्ततः) ज्ञानियों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस प्रबल अनुभूति के आधार पर, उन उन श्रुतियों, युक्तियों तथा अनुभूतियों के बाधित हो जाने के कारण भी पुत्र आदि से शून्य तक सब कुछ अनात्मा ही है।

अतः तत्तत्-भासकं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभावं प्रत्यक्-चैतन्यम् एव आत्म-वस्तु इति वेदान्त-विद्वद्-अनुभवः ।।१३५।।

– इस कारण उनमें से प्रत्येक (पुत्र से लेकर शून्य तक) को प्रकाशित करनेवाला और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाववाला अन्तःस्थ चैतन्य ही आत्मवस्तु है। यही वेदान्तविदों की अनुभूति है।

एवम्-अध्यारोपः ।।१३६।।

– इस प्रकार (वस्तु पर अवस्तु का) अध्यारोप दिखाया गया।

अध्याय - ४

अपवाद

(अध्यारोप-निवारण, मूल कारण में वापस जाना)

अपवादो नाम रज्जु-विवर्तस्य सर्पस्य रज्जु-मात्रत्ववत् वस्तु-विवर्तस्य अवस्तुनः अज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तु-मात्रत्वम् ।।१३७।।

– जिस प्रकार रस्सी में अविद्या से उत्पन्न सर्प की भ्रान्ति मिटने पर अन्ततः वह रस्सी ही रह जाती है, उसी प्रकार आत्मवस्तु पर आरोपित अज्ञान आदि जगत्-प्रपंच का भी अन्ततः उन सबके 'वस्तु' (ब्रह्म) ही रह जाने को 'अपवाद' कहते हैं।

तद्-उक्तम् – 'सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः। अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः ।।'' इति ।।१३८।।

– कहा भी है – ''(दूध का दही के समान) एक वस्तु का दूसरे में वास्तविक परिणति को 'विकार' कहते हैं, जबकि (रस्सी के सर्प रूप में दिखने के समान) उसके प्रातिभासिक रूपान्तरण को 'विवर्त' कहते हैं।''

(तत्त्व = स्वरूप; प्रथा = प्रसिद्धि या विस्तार)

तथाहि एतद्-भोगायतनं चतुर्विध-सकल-स्थूल-शरीर-जातं भोग्यरूप-अन्न-पान-आदिकम् एतद्-आयतनभूत-भूः-आदि-चतुर्दश-भुवनानि एतद्-आयतनभूतं ब्रह्माण्डं च एतत्-सर्वम् एतेषां कारणरूपं पञ्चीकृत-भूतमात्रं भवति ।।१३९।।

– उसी प्रकार भोग के आश्रयरूप (जरायुज आदि) चार प्रकार के भौतिक शरीर, उनके भोग्य-रूप विभिन्न प्रकार के अन्न-पेय आदि, उन्हें धारण करनेवाले भूः आदि चौदह लोक और उनका आश्रयभूत यह ब्रह्माण्ड – ये सभी अपने कारणरूप पंचीकृत स्थूल भूत मात्र रह जाते हैं।

एतानि शब्दादि-विषय-सहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्म-शरीरजातं च एतत्-सर्वम् एतेषां कारण-रूप-अपञ्चीकृत-भूतमात्रं भवति ।।१४०।।

– शब्द आदि पाँच विषयों के साथ पंचीकृत (पाँच स्थूल) भूत और सूक्ष्म शरीर – ये सभी अपने कारण-रूप अपंचीकृत भूत के रूप में रह जाते हैं।

एतानि सत्त्वादि-गुण-सहितानि अपञ्चीकृतानि उत्पत्ति-व्युत्क्रमेण एतत्-कारणभूत-अज्ञान-उपहित-चैतन्यमात्रं भवति ।।१४१।।

– ये पाँच अपंचीकृत भूत (पदार्थ) सत्त्व, रजस् आदि गुणों के साथ, अपनी उत्पत्ति के उल्टे क्रम से, अपने कारणरूप अज्ञान-उपाधियुक्त चैतन्य मात्र रह जाते हैं।

एतद्-अज्ञानम् अज्ञान-उपहितं चैतन्यं च ईश्वर-आदिकम् एतद्-आधारभूत-अनुपहित-चैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति ।।१४२।।

– यह अज्ञान और उस अज्ञान उपाधि से युक्त चैतन्यरूप ईश्वर आदि अपने आधारभूत उपाधिरहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्ममात्र ही रह जाते हैं।

आभ्याम् अध्यारोप-अपवादाभ्यां तत्-त्वम्-पदार्थ-शोधनम् अपि सिद्धं भवति ।।१४३।।

– इस अध्यारोप एवं अपवाद की प्रक्रिया से 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ का शोधन (यथार्थ बोध) भी सिद्ध हो जाता है।

तथाहि - अज्ञान-आदि-समष्टिः एतद्-उपहितं सर्वज्ञत्व-आदि-विशिष्टं चैतन्यम् एतद्-अनुपहितं च एतत्-त्रयं तप्त-अयःपिण्डवद्-एकत्वेन-अवभासमानं तत्पद-वाच्यार्थो भवति ।।१४४।।

– ऐसा होने से – अज्ञान आदि (स्थूल, सूक्ष्म) की समष्टि, उन उपाधियों तथा सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त चैतन्य (ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट्) और उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) – ये तीनों तप्त लौहपिण्ड के समान एक (अभिन्न) प्रतीत होते हुए 'तत्' शब्द के वाच्यार्थ (शाब्दिक अर्थ) होते हैं।

एतद्-उपाधि-उपहित-आधारभूतम् अनुपहितं चैतन्यं तत्-पद-लक्ष्यार्थो भवति ।।१४५।।

– इन उपाधियों से युक्त चैतन्य (ईश्वर) का आधारभूत शुद्ध या निरुपाधिक चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ हो जाता है।

अज्ञानादि-व्यष्टिः एतद्-उपहित-अल्पज्ञत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यम् एतद्-अनुपहितं च एतत्-त्रयं तप्त-अयःपिण्डवद्-एकत्वेन-अवभासमानं त्वम्-पद-वाच्यार्थो भवति ।।१४६।।

– अज्ञान आदि (स्थूल, सूक्ष्म शरीर) की व्यष्टि, उस उपाधि से युक्त – अल्पज्ञत्व आदि विशेषताओं वाला चैतन्य (प्राज्ञ, तेजस्, विश्व आदि) और निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य – ये तीनों तप्त लौहपिण्ड के समान एक (अभिन्न) प्रतीत होते हुए 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ होते हैं।

एतद्-उपाधि-उपहित-आधारभूतम् अनुपहितं प्रत्यग्-आनन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्-पद-लक्ष्यार्थो भवति ।।१४७।।

– (इन) उपाधियों तथा उनसे युक्त जीव का आधारभूत शुद्ध या निरुपाधिक प्रत्यगानन्द-रूप तुरीय चैतन्य – 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

उत्तम स्वास्थ्य के उपाय (५)

❑ प्रचार माध्यमों के विज्ञापनों को देखकर नित्य नये साबुन प्रयोग करना उचित नहीं है, शरीर से पसीना और मैल साफ करने के लिये यद्यपि बीच बीच में साबुन का उपयोग आवश्यक हो जाता है, तथापि ऐसे साबुन का उपयोग नहीं करना चाहिये, जो त्वचा को शुष्क बनाये या उस पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करे।

❑ स्नान के पूर्व बायाँ हाथ नाभि के नीचे रखकर तीन-चार मिनट नाभि पर ठण्डा पानी डालना चाहिये, जब पेट अच्छी तरह ठण्डा हो जाय, तब सिर पर पानी डालना है। सिर को ठीक से धोने के बाद ही शरीर पर पानी डालना चाहिये। इस प्रक्रिया से स्नान करने से शरीर-मन स्निग्ध व तरोताजा रहता है और पाचन-शक्ति की वृद्धि होती है। तालाब या नदी में स्नान करनेवाले भी इस विधि से लाभ उठा सकते हैं।

❑ स्नान के लिये पानी ज्यादा गर्म न हो। यद्यपि जाड़े में गरम पानी से स्नान अच्छा लगता है, परन्तु यह स्वास्थ्य के लिये ठीक नहीं है। गरम पानी से स्नान करने से शरीर की प्रतिरोध-क्षमता में क्रमशः ह्रास आ जाता है और तब वात, ज्वर, सर्दी-खाँसी, स्वरभंग आदि किसी-न-किसी रोग का आक्रमण होता ही रहता है।

❑ जाड़ों में जो लोग सहज ही सर्दी-खाँसी से आक्रान्त हो जाते हैं या जिन्हें ठण्डे पानी का स्नान सहन नहीं होता, उनके लिये एक सहज उपाय है – शरीर पर तेल मलने के बाद नाभि पर ठण्डा पानी डालने के बाद सिर पर पानी डालें और गमछे या तौलिये को भिगाकर अच्छी तरह निचोड़ लें और उससे शरीर को रगड़कर पोछ लें।

❑ स्नान के बाद यदि तरोताजा तथा स्वच्छता का बोध न हो, तो स्नान व्यर्थ है। ❖ (क्रमशः) ❖